मेरी बात

भारत के मुस्लिम कालीन इतिहास को इस देश के विरोधियों ने ऐसा विषाक्त कर दिया है कि हमारी राष्ट्रीय एकता अत्यन्त दुर्बल हो गई है। देश के भावी नागरिकों को इतिहास के नाम पर अपने पड़ौसियों से घृणा करने की शिक्षा दी जाती है। मैंने अपनी छोटी-सी शक्ति के अनुसार इस व्यापक विष को दूर करने के लिए कुछ नाटक दिए हैं।

मेरे ऐतिहासिक नाटकों की माला बीच में दो सामाजिक नाटकों—'बंधन' और 'छाया' के लिखने से पूरी होने से रुक गई थी। 'मित्र' के द्वारा फिर वह माला आगे चला रहा हूं। इस तरह के अनेक नाटक अभी मुझे लिखने हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि सामाजिक नाटक लिखना मैं बन्द कर दूंगा। मेरे सामाजिक नाटकों ने भी पाठकों का विशेष ध्यान खींचा है, विशेषतः मेरे 'छाया' नाटक ने अनेक हृदयों में हलचल पैदा कर दी है। कुछ लोगों ने उसमें अपनी तसवीरें सी देखीं—मुझे बुरा भला भी कहा। किंतु, लेखक तो संसार को जिस रूप में देखता है चित्रित करता है, न किसी पर दया करता है—न किसी के प्रति निष्ठुरता। व्यक्तिगत द्वेष अथवा पक्षपात के ऊपर रह कर ही वह कुछ कहता है। व्यक्तियों की तस्वीर उतारना उसका उद्देश्य नहीं, वह तो व्यापक सामाजिक समस्याओं को लेता है। किसी व्यक्ति विशेष से उसका लगाव नहीं होता उसका लक्ष समाज के अपराधों को प्रकाश में लाना होता है। सामाजिक नाटकों के भी अनेक कथानक मेरे मस्तिष्क से बाहर आने को बेचैन है।

मुझे इस बात का संतोष है कि मेरे नाटक साहित्य-मर्मज्ञों द्वारा पसन्द किए गए—साथ ही अनेक स्थानों पर सफलता से खेले भी गए। मुझे इस बात का खेद है कि मैं जो कुछ लिखता रहा हूं। उसे विद्वानों के सन्मुख रखने का अवसर न पा सका।

मैं अपने अनेक साथियों को देखता हूं कि वे अपनी रचनाओं के विषय में अपने मित्रों के द्वारा खूब जा और बेजा प्रचार और अभिनन्दन कराने का उद्योग करते रहते हैं। लेकिन मैं इतना भी नहीं देख पाता कि मेरी कृतियां पाठकों के सामने पहुंच भी पाती हैं या नहीं ? मेरी व्यक्तिगत जीवन की समस्याएं ही मुझे इस तरह घेरे रहती हैं कि मुझे इस दिशा में ध्यान देने का न समय मिलता है न मानसिक-शान्ति। फिर भी मेरे प्रयत्न न करने पर भी जब कभी मेरी कोई रचना समालोचकों के पास पहुँच गई, तो उसे अभिनन्दन ही प्राप्त हुआ। इससे मुझ में आत्म-विश्वास बढ़ा है, और निंदा-स्तुति की परवाह न करके मैं लिखे जा रहा हूं।

कुछ दिनों से एक-दो प्रकाशकों की मुझ पर अकृपा रही है—और मेरी कृतियों के प्रति लोगों के आदर-भाव को कम करने का उस ओर से यत्न भी हुआ है। मेरे निजी प्रकाशन व्यवसाय में मुझे सफलता न मिले इसका प्रयत्न भी हुआ है, मेरे नाटक कहीं खेले जावें और वहां से मुझे कुछ आर्थिक-लाभ हो तो उसमें भी प्रकाशकों ने टांग अड़ाई, यद्यपि कानून उन्हें इसका हक़ नहीं देता।—फिर भी ईश्वर की अपार कृपा से मेरे नाटकों का प्रचार अनायास ही बढ़ रहा है, और नाटक लिखने का मेरा उत्साह भी।

मित्र

पहला अंक

प्रथम दृश्य ।

—:o:—

[स्थान—वन । समय—अर्ध रात्रि । एक झोंपड़ी मे एक चारपाई पर तांडवी सो रही है । उसका सारा शरीर चादर से ढका हुआ है । केवल मुंह खुला हुआ है । उसके लम्बे और घने बाल बिखरे हुए है । झोंपड़ी में एक खूंटी पर एक तलवार टंगी हुई है । एक कोने में तीर कमान रखे हुए हैं । आसमान में बादल घिरे हुए है । अचानक बड़े जोर से बादल गर्जता है । बिजली चमकती है । तांडवी सहसा चौंक पड़ती है । उठ कर खड़ी हो जाती है ।]

तांडवी—कैसी काली अंधेरी रात है । इस मरु-भूमि में ऐसी घोर घटायें कभी नहीं घिरी थीं । (उठ कर तलवार उतार कर उसे नंगी करती है । आसमान में बिजली चमकती है ।) इन भयानक बादलों से चमक-चमक कर विद्युत-बाला कह रही है, जैसलमेर के वीर पुरुषों की तलवारें अब म्यान से बाहर होनी चाहिये । (पानी गिरना प्रारम्भ होता है) लो अचानक मूसलधार वर्षा प्रारम्भ हो गई । इसी तरह इस भूमि में रक्त की वर्षा होगी । बरसो मेघ, जी-भर कर बरसो—मैं भी तुम्हारे स्वर में स्वर मिला कर गाती हूं ।

(गाती है)

रण के घन घिर घिर कर आये !

ये राजस्थानी तलवारें,
करती वीरों की मनुहारें,
बहने दो लोहू की धारें,
लाल लाल सागर भर जाये !
रण के घन घिर-घिर कर आये !

जो हैं अग्नि-पुत्र तूफानी,
हार उन्होंने कभी न मानी,
यम से भिड़ जाने की ठानी,
मर कर भी न वीर मर पाये !
रण के घन घिर-घिर कर आये !

जन्म भूमि का मान न जाये,
रजपूतों की आन न जाये,
बलि-वेदी पर होड़ लगाए,
चले, चढ़े, चढ़ कर मुसकाए !
रण के घन घिर-घिर कर आये !

(महाकाल का हाथ में खून से सनी नंगी तलवार लिये भयंकर भेष में प्रवेश।)

महाकाल—तांडवी !

तांडवी—भैया महाकाल ! यह कैसा भयानक भेष !

महाकाल—भयानक ! नहीं बहन, वीरों का यही तो सौन्दर्य है। वर्षों बाद मेरी तलवार ने छक-छक कर खून पिया है।

तांडवी—बात क्या है, भैया ! तुम तो कह गए थे राजमहल में नाटक देखने जा रहा हूं।

महाकाल—हां—हां नाटक ही तो ! खेल-खेल में हमने पांच सौ सिपाहियों को मौत के घाट उतार दिया।

तांडवी—ओह, मैं तो स्तम्भित हो गई थी—तो तुम्हारी तलवार पर झूठा खून है।

महाकाल—तो तू अपने भैया को धोखेबाज समझती है ! झूठा खून ! महाकाल झूठे खेल नहीं खेलता। इस तलवार पर देश के शत्रुओं के हृदय का गाढ़ा गाढ़ा ताजा रक्त है !

तांडवी—कल तक तो तुमने·········

महाकाल—हाँ, कल तक आसमान साफ था। अचानक बादल आये—आंधी उठी, बिजलियों की तरह वीरों की तलवारें म्यानों के बाहर हुईं—खून की अजस्र धारा बह निकली।

तांडवी—लेकिन भैया, बादल तो अभी घिरे हुए हैं।

महाकाल—मेरी तलवार कहती है-अभी मैं और प्यासी हूँ। चल, बाहर चल, तुझे दिखाऊं मैं तेरे लिये क्या लाया हूं।

(तांडवी का हाथ पकड़ कर प्रस्थान करता है)

[पट परिवर्तन]

दूसरा दृश्य

[स्थान—दिल्ली के राजमहल की वाटिका में अलाउद्दीन खिलजी चहलकदमी कर रहा है। महबूब भी साथ है। समय—प्रभात।]

अलाउद्दीन—महबूब, इस अलाउद्दीन ने अपने जीवन में एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं लिया ! प्रेम की प्यास मेरे प्राणों को सुखा रही है। मुझे अपनी पिछली जीतें भी हार जान

महबूब—सर पर राजमुकुट धारण करने पर व्यक्तिगत जीवन तो समाप्त हो जाता है, बादशाह सलामत! सबसे बड़ी जीत तो यही है कि हम अपनी इच्छाओं पर काबू पा सकें।

अलाउद्दीन—मैं अपनी सारी इच्छाओं पर काबू पा सकता हूं—लेकिन हिन्दुस्तान को—सारे हिन्दुस्तान को अपने झण्डे के लाने की मेरी आकांक्षा मुझे कहां कहां उड़ाये फिरेगी यह नहीं जानता! मैं सारे हिन्दुस्तान को अपना बनाना चाहता हूं!

महबूब—वह आप बहुत आसानी से बना सकते हैं।

अलाउद्दीन—कैसे?

महबूब—खुद उसके बन कर। हिंदुस्तान ने तो हमेशा ही परदेशियों को भी अपना समझा—मां की तरह उसने हम विदेशियों पर भी अपने स्नेह का अंचल फैलाया, लेकिन हमने भूल की।

अलाउद्दीन—क्या भूल की, महबूब?

महबूब - यही कि हम उसे अपनी मां न समझ पाये! हमने जिसका दूध पिया—उसकी गर्दन पर तलवार चलाई।

अलाउद्दीन—अपने राज्य का विस्तार करना कौन नहीं चाहता, महबूब!

महबूब—राज्य-विस्तार के भी अनेक तरीके होते हैं, जहांपनाह! एक दिन वह था जब इस देश की विजय पताका दुनियां के हरेक कोने में फहराई थी—लेकिन यहाँ की तलवार के पहले यहां का ज्ञान—यहां का प्रेम वहां पहुँच चुका था। तलवार के आगे सर झुकाने के पहले दुनियां ने यहां के विश्व-प्रेम और

भी यहाँ दूध-पानी की तरह यहाँ के पूर्व निवासियों के साथ हिल-मिल जावें !

अलाउद्दीन —महबूब, पुरानी दुनियाँ बहुत अच्छी थी—प्राचीन आदर्शों पर हम वर्तमान का प्रासाद नहीं खड़ा कर सकते। आज न यह हिन्दुस्तान पुराना हिन्दुस्तान रहा—जबकि प्रेम ही इसका मूलमन्त्र था, न इसके निवासी आज स्वयं ही एक हैं। ब्राह्मण शूद्र को छूना भी पाप समझता है—ऐसी है इस देश की स्थिति। ये आज अपने अंगों से भी प्रेम नहीं रखते—ये हम परायों से प्रेम क्या करेंगे ? ऐसे लोगों पर विदेशी राज्य स्थापित न हो—यही आश्चर्य की बात है। यहाँ पर व्यक्तिगत वीरता, पराक्रम, पांडित्य, प्रतिभा और प्रेम पा सकते हैं—किन्तु, सामुहिक रूप से—ये सर्वथा जर्जर हैं—हम कैसे इनके साथ एक हों।

महबूब—लेकिन अलग रह कर क्या हम इस देश को शक्तिसंपन्न बना सकेंगे ? सोचिए जहाँपनाह, बाहर के सिपाहियों के ज़ोर पर हमारा शासन कैसे चलेगा ?

अलाउद्दीन—चल जो रहा है।

महबूब—ऐसा दिखाई देता है। लेकिन इसमें सचाई नहीं है। हमारे शासन में स्थायित्व क्या है। यहाँ प्रजा जिस दिन हमें अपना मान लेगी उसी दिन हम समझेंगे—हमारी जीत हुई है। आज हम एक राज्य जीतते हैं दूसरे दिन वहां बग़ावत हो जाती है। हमारे अपने सूबेदार अपनी अलग नवाबी बनाने के सपनें देखते रहते हैं। यह है हमारी राजनीतिक स्थिति !

(रहमान का प्रवेश)

रहमान—बंदगी जहांपनाह !

अलाउद्दीन—कब आए रहमान।

रहमान—अभी लौटा हूं।

अलाउद्दीन—कुशल तो है !

रहमान—जी हां जिन्दा लौट आया।

अलाउद्दीन—क्यों क्या हुआ ?

रहमान—एक मौत की आंधी चली, जिसने हमारी सेना के ५०० सिपाहियों को जीवन के बोझ से छुटकारा दे दिया।

अलाउद्दीन—साफ कहो—हमारा खजाना आ गया।

रहमान—जी नहीं, उसे लुटेरों ने लूट लिया।

अलाउद्दीन—लूट लिया ! और तुम यहां जिन्दा लौट आए।

रहमान—इस समाचार को आपके पास तक पहुँचाने के लिए किसी को तो आना ही था, इसलिए यह निर्लज्ज लौट ही आया। मुझे अफसोस है जहांपनाह ! हम लोग पंजनद नदी के किनारे ठहरे हुए थे, लुटेरे भी साहूकारों का रूप रखकर हमारे पास ही डेरा डाल कर ठहर गये।

महबूब-फिर ?

रहमान-फिर रात्रि के समय अचानक वे तलवारें लेकर हम पर टूट पड़े-हमारे ५०० सिपाहियों को उन्होंने ऐसे काट डाला जैसे बाजरे का खेत काटा जाता है। सारा खजाना लूट कर वे चलते बने !

अलाउद्दीन-इतना साहस ! हिन्दुस्तान के हरेक गढ़ की चट्टानें अलाउद्दीन की टेढ़ी निगाह से कांप उठती हैं। यह कौन दो सर का पैदा हुआ है, जिसने मेरे विरुद्ध सर उठाया है ?

रहमान-एक व्यक्ति को मैं पहचान सका हूं !

अलाउद्दीन—कौन है वह, शीघ्र बतलाओ।

रहमान—भाई साहब के सामने नहीं बता सकता !

महबूब—ऐसी कौन सी बात है जो मेरे सामने कहने में डरते हो, रहमान। हम दोनों ने एक ही मां का दूध पिया है— आज यह भेद की दीवार क्यों खड़ी कर रहे हो। अच्छा, मैं जाता हूं। (प्रस्थान)

अलाउद्दीन—हां. बताओ वह कौन था ?

रहमान—वह व्यक्ति था–हमारे बड़े भाई साहब का अनन्य हृदय मित्र रत्नसिंह। जैसलमेर का राजकुमार !

अलाउद्दीन—(मुट्ठी भींच कर) उस छोटे से पहाड़ी किले के स्वामी का इतना दुस्साहस !

रहमान—राजपूत हमेशा अपने से अधिक बली से ही लोहा लेते हैं। यह तो उनका स्वभाव है।

अलाउद्दीन—अलाउद्दीन उनके घमण्ड को चकनाचूर करना जानता है। मैं इसका बदला लूंगा। मैं जैसलमेर के घमण्ड के किले को मिट्टी में मिला हुआ देखूंगा।

रहमान—जी मैं प्रस्तुत हूं आप आज्ञा दीजिये। कल ही युद्ध की घोषणा कर दी जाई।

अलाउद्दीन—नहीं, अभी नहीं ! अलाउद्दीन ने कोई काम बिना सोचे नहीं किया। कभी क्रोध में आकर विवेक को तिलांजलि नहीं दी। मैं महबूब को अवसर दूंगा कि वह अपने मित्र को मेरे न्यायालय में उपस्थित करे। चलो अब हम यहां से चलें। (दोनों का प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

[जैसलमेर के महाराजा जीतसिंह, उनका ज्येष्ठ पुत्र मूलराज और छोटा लड़का रत्नसिंह परस्पर बात-चीत कर रहे हैं। जीतसिंह जी काफी वृद्ध है—किन्तु उनकी आंखों में चमक, चाल में दर्प और वाणी में गर्जन है! दोनों राजकुमार राजपूती साहस के प्रतीक हैं।]

जीतसिंह--मूलराज, मैं चाहता हूं, हमारे गढ़ में इतना अन्न एकत्रित कर लिया जावे—जिससे दो वर्ष तक हमारी सेना और नागरिकों का पालन किया जा सके।

मूलराज--किसलिए पिताजी?

रत्नसिंह—क्या देश में दुर्भिक्ष पड़ने वाला है?

जीतसिंह—दुर्भिक्ष तो यहां के लिए रोज की बात है रत्नसिंह! जब तक राजपूत की तलवार साबित है तब तक राजपूत दुर्भिक्ष से नहीं डरता।

मूलराज—फिर पिताजी!

जीतसिंह—कर्मयोगी भगवान कृष्ण के वंशज जैसलमेर का राजवंश भविष्य के प्रति आंख मूंदकर नहीं रह सकता। वह विनाश के साथ लोहा लेने को प्रत्येक क्षण प्रस्तुत रहेगा।

रत्नसिंह—लेकिन, पिताजी! हमारी तो किसी से शत्रुता नहीं।

जीतसिंह--जब तक स्वार्थ और अभिमान जीवित हैं, हिंसा का ताण्डव नहीं रुक सकता। किस क्षण, किस ओर विनाश का डमरू बज उठे, इसे कौन जानता है।

मूलराज--व्यर्थ ही चिंतित होने से लाभ?

जीतसिंह—शत्रु हमें अप्रस्तुत क्यों पावे ? मान लिया कि आज हमारी शक्ति क्षीण हो गई है। हमीं क्या, संपूर्ण क्षत्रिय-शक्ति का दीपक आज अस्त होता नज़र आ रहा है। एक महासूर्य— अनन्त टुकड़ियों में बटकर तेजहीन हो चला है—लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि हम इस देश के पराक्रम के प्रतिनिधि हैं। हमें शत्रु को भारतीय बल का परिचय देना ही पड़ेगा।

रत्नसिंह—किन्तु शत्रु है कौन ?

जीतसिंह—भोले रत्नसिंह ! उस अंधेरी रात में—बरसते हुए पानी में—बिजलियों की चमक और बादलों के गर्जन के नीचे तुम एक अज्ञात कोष को लूटकर लाए थे, उसी दिन जीतसिंह ने समझ लिया था—कि महाकाली ने अपना खप्पर जैसलमेर के वीरों के आगे बढ़ाया है—उसे रक्त से भर ही देना होगा।

(एक सैनिक आता है जिसके हाथ मे एक पत्र है। महाराज की वन्दना करके पत्र देकर वह चला जाता है। महाराज पत्र पढ़ते हैं। पढ़कर मूलराज को देते हैं।)

जीतसिंह—देखो, मूलराज ! मैं इस बात को पहले ही जानता था। वह खजाना भारत-सम्राट् अलाउद्दीन खिलजी का था।

महाराज—हमसे बहुत बड़ा अपराध हुआ।

रत्नसिंह—पिताजी मैं अपने अपराध का दण्ड भुगतने के लिए अलाउद्दीन के सामने उपस्थित हो जाऊंगा !

जीतसिंह—तुम रत्नसिंह—मेरे पुत्र होकर ऐसी बात अपने मुंह से निकालते हो ! जिस दिन जैसलमेर के सारे वीरों का खून पानी हो जावेगा, उस दिन यहाँ के राजपूतों को ऐसे अप-

धाधों के लिए किसी के आगे क्षमा-याचना या दंड के लिए खड़ा होना पड़ेगा ! समझे, रत्नसिंह !

रत्नसिंह--लेकिन पिता जी—एक-दो व्यक्तियों के दुस्साहस का दंड सारे देश को देना उचित है ?

जीतसिंह--दुस्साहस ! तुम इसे दुस्साहस कहते हो ! दुस्साहस और अन्याय तो उन्होंने किया है, जिन्होंने हमारे देश के हरे भरे प्रान्तों पर अपना अधिकार करके हमें इस मरुभूमि में रहने को मजबूर किया है, जहां का आकाश पानी नही देता, जहां की भूमि अन्न नहीं देती। फिर क्यों न हम उनका धन लूटें जो अपनी आवश्यकताओं से अधिक द्रव्य जमा किए बैठे हैं।

मूलराज--हम तो यह चाहते थे, किसी प्रकार यह रक्तपात रोका जाता ? आप वृद्ध हैं—और प्रजा बहुत निर्धन है-आपको इस आयु में युद्ध की चिन्ता और प्रजा को असह्य कष्ट ! दो ही बातें हैं, जो हमारे क्षत्रियत्व के जोश को विचार और विवेक के चरणों पर झुका रही हैं। आपको हमारा मोह है इसलिए आप हमें दिल्ली के दरबार में नहीं जाने देते।

जीतसिंह—मोह। क्षत्रिय को मोह। असम्भव। तुम मेरी आँखों के तारे हो-फिर भी मैं तुम्हें सदा युद्धभूमि में भेजने को प्रस्तुत हूँ। किन्तु, जिस आंच में तुम अकेले जलना चाहते हो-उसमें तुम्हारा पिता भी जलेगा। इस युद्ध का परिणाम

मैं जानता हूं और उसके लिए मैं तैयार हूं। भगवान कृष्ण ने अपनी आँखों के आगे अपने स्वजनों का सर्वनाश देखा था। उन्हें अनाचारी बनने देने की अपेक्षा उनका विनाश उन्होंने

पसन्द किया था। मैं उन्हीं का वंशज हूं। मैं भी आज अपने सर्वस्व की आहुति देने को प्रस्तुत हुआ हूं।

रत्नसिंह—क्या हम अनाचारी हैं? हमारे कार्य से दुखी होकर तो आप ऐसा निश्चय नहीं कर रहे?

जीतसिंह—नहीं बेटा, तुमने हमारे कुल को उज्जवल किया है। यह दिन एक बार आना था। तुमने उसे जरा जल्दी बुला लिया है। यादव वंश के ही वंशज आर्य-धर्म को छोड़ कर सिंधुनद के पार ईरान तक फैले हुए हैं। वे ही आज इस देश पर विदेशी बन कर आए हैं—हमें उन्ही से मुकावला करना है।

रत्नसिंह—क्या हम उन्हें यह नहीं समझा सकते कि वे हमारे हैं।

जीतसिंह—स्वार्थ ने उसकी बुद्धि हर ली है। वे अतीत को भूल गए हैं। वर्तमान ने उन्हें मदांध कर दिया है। अब तो तलवार ही उन्हें प्रकाश दे सकती है। यह युद्ध अनिवार्य है। इसे कोई नही रोक सकता! चलो—हमें तुरंत सैन्य संगठन और धन-संग्रह का प्रबन्ध करना चाहिए।

(सब का प्रस्थान)

(पट परिवर्तन)

चौथा दृश्य

(महबूब की दस वर्षीया पुत्री अख्तरी घर के सामने वाले बगीचे में एक गुड्डे को एक जगह खड़ा कर रही है। गुड्डा सिपाही की पोशाक में है। उसके हाथ में एक लकड़ी की तलवार देती हुई गाती है।

अख्तरी

वांके वीरो के सरदार,
कहां चले लेकर तलवार ?

आई कल दुलहिन अलबेली,
छोड़ चले तुम उसे अकेली,
हँसती उस पर सभी सहेली,
किया न उसको दो दिन प्यार !
वांके वीरों के सरदार !
कहां चले लेकर तलवार ?

धरती लोहू से रंग दोगे,
शीश हज़ारों तुम काटोगे,
कितनों का सुहाग हर लोगे,
है जुल्मों का नहीं शुमार !
वांके वीरों के सरदार !
कहां चले लेकर तलवार ?

सच कहती हूं कहना मानों,
यहां प्रीत से रहना जानों,
मत तीखी तलवारें तानों,
लड़ना-भिड़ना है बेकार !
वांके वीरों के सरदार !
कहां चले लेकर तलवार ?

(अख्तरी गीत का अंतिम पद गा रही है कि उसकी मां अनवरी बेगम आती है और चुपचाप पीछे खड़ी हो कर उसका गाना सुनती रहती है।)

अनवरी—क्यों री तू अपने गुड्डे को कायर बना रही है। पुरुष जन्मा ही इस लिए है कि वह दुनियाँ में अपने बल-विक्रम का डंका बजाता फिरे।

अख्तरी—क्यों माँ, सच बताओ, क्या वास्तव में दूसरे की जान लेना कोई अच्छा काम है ?

अनवरी—अच्छा बुरा मैं नहीं जानती. इतना कह सकती हूं कि जिन स्त्रियों के पति युद्ध-भूमि में पौरुष प्रदर्शित करते हैं वे अपने भाग्य पर अभिमान करती हैं। जिन माताओं के पुत्र देश की मान-रक्षा के लिए तलवार पकड़ते हैं, वे समझतीं हैं, उनका माँ होन धन्य हुआ।

अख्तरी—इसलिए कि वे दूसरी माताओं की गोद सूनी करते हैं, मैं लड़ाई को बहुत बुरा काम समझती हूं माँ।

अनवरी—मान लो अख्तरी, कोई लड़का तुम्हारा गुड्डा छीनने लगे तो तुम क्या करोगी ?

अख्तरी—मैं उससे कहूंगी, कि आओ हम दोनों मिल कर इससे खेलें।

अनवरी—लेकिन अगर वह कहे मैं अकेला ही खेलूंगा, तुझे नहीं खेलने दूंगा !

अख्तरी—तो मैं गुड्डा लेकर भाग जाऊंगी ?

अनवरी—लेकिन वह भागने में तुमसे तेज हुआ, और अगर उसने तुम्हें पकड़ लिया तो ?

अख्तरी—तो मैं उसे काट खाऊंगी।

अनवरी—बस यही तो लड़ाई है। ये बादशाह लोग—दूसरों की पृथ्वी और सम्पत्ति छीनने के लिए अपनी सेना लेकर आक्रमण कर देते हैं। चाहे कोई दुर्बल हो, चाहे बल-

जान, अपनी चीज़ सभी को प्यारी होती है। सभी अपनी चीज़ों की रक्षा करना चाहते हैं। इसी लिए लड़ाई होती है, बेटी!

अख्तरी—लेकिन कोई दूसरे की चीज़ क्यों लेना चाहता है। हमारा मकान बादशाह के महल से छोटा है तो क्या हमें उनका महल उनसे छीन लेना चाहिए!

अनवरी—बेटी, छोटों के दिलों में बड़ों की चीज़ों को छीनने की इच्छा कम होती है, ये तो बड़े आदमी ही है जो छोटों की छोटी छोटी झोंपड़ियाँ मिटा कर बड़े बड़े महल बनाना चाहते हैं।

अख्तरी—क्या छोटे लोग बड़ों के महल नहीं गिराना चाहते। देखो अम्मी जान, जब मेरी कोई सहेली मुझसे बड़ा घरौंदा बनाती है तो मैं तुरन्त लात मार कर उसे गिरा देती हूँ।

अनवरी—ठीक है, बेटी! किसी भी बात में किसी से छोटा होकर रहना मनुष्य को पसन्द नहीं है। दुर्बल और साधनहीन होने के कारण छोटे कुछ नहीं कर पाते, लेकिन जिस दिन ये छोटे एक साथ मिल-कर खड़े हो जाते हैं तो बड़े बड़े साम्राज्यों को मिटा डालते हैं। (महबूब का प्रवेश)

अख्तरी—अब्बाजान!

(महबूब से चिपट जाती है, महबूब उठा कर उसे चूमता है। फिर जमीन पर उतार देता है)।

महबूब—जाओ बेटी, अब तुम खेलो।

अख्तरी—आप भी मेरे साथ खेलिए न, अब्बाजान!

महबूब—मुझे एक बड़ा खेल खेलने जाना है!

अनवरी—आप क्या कह रहे हैं?

महबूब—यही अनवरी कि मैं लड़ाई पर जा रहा हूँ। सैनिक के जीवन में विश्राम नहीं। न उसकी कोई पत्नी है, न कोई उसका बच्चा है, न उसका कोई घर है। न जाने किस दिन उसका जीवन-दीपक बुझ जावे! सच पूछो तो मैं इस बार मर जाना चाहता हूँ।

अनवरी—ऐसे अशुभ वाक्य न बोलो, प्रियतम! संग्राम आपके लिए कोई नई बात नहीं है। विजय आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

महबूब—लेकिन इस बार मैं जीत गया तो यह मेरी सबसे बड़ी हार होगी।

अनवरी—क्यों?

महबूब—इसलिए कि मेरे सेनापतित्व में जैसलमेर पर आक्रमण होगा। मेरे मित्र रत्नसिंह के विरुद्ध मुझे तलवार पकड़नी होगी! मेरा दिल डूबा जा रहा है, अनवरी। मैं प्रेम और मित्रता का खून करने चला हूँ।

अनवरी—बड़ी कड़ी परीक्षा बादशाह ने ली है।

महबूब—हां अनवरी! तुम तो जानती हो, मैं रत्नसिंह को अपने प्राणों से अधिक मानता हू। एक तरफ मित्रता है, दूसरी ओर अपने सम्राट के प्रति कर्तव्य-पालन की भावना। दो तलवारें मुझे दो तरफ से छेद रही है।

अनवरी—वे ही रत्नसिंह जी जिनका एक बहुत प्यारा लड़का—क्या नाम उसका, गिरिसिंह अपने यहाँ आया था, जिसे मैंने राखी बाधी थी?

महबूब—हां, बेटी, वे ही रत्नसिंह ! आज मैं तेरे भाई के सिर से उसके पिता का स्नेह भरा हाथ सदा के लिए उठाने जा रहा हूँ ।

अख्तरी—क्यों जाते हैं आप, न जाइए ?

महबूब—यह कैसे हो सकता है ? मैं नौकर हुं। नौकर की आत्मा स्वामी के हाथों बिक जाती है, बेटी ! स्वामी से विश्वासघात करना सबसे बड़ा पाप है।

अख्तरी—पिता जी, किसे पाप कहना चाहिए, किसे पुण्य इसे शायद अभी दुनिया निश्चित नहीं कर सकी। पिता का हुक्म मानना संतान का धर्म है। लेकिन यदि आप मुझ से कहें कि मैं सोते में गिरिसिंह का सिर काट डालूं तो इस आज्ञा को न मानना पुण्य समझूंगो।

अनवरी—इस उम्र में इतनी बात सोचना अच्छी बात नहीं बेटी। चलो, भीतर चलें। चलिए प्रियतम, अच्छी तरह सोचकर अपने कर्तव्य का निश्चय कीजिए।

(सबका प्रस्थान) (पट-परिवर्तन)

पांचवां दृश्य

[अमावस्या की काली रात। काली के मन्दिर में मूलराज की पत्नी किरणमयी बाल फैलाए, मूर्ति के आगे हाथ जोड़ कर खड़ी है।]

किरणमयी—मां, भवानी, इस भयानक काली रात में—निराशा के घोर अंधकार में तुम्हारे ये तेजपूर्ण नेत्र आशा के दो सूर्यों की भाँति चमक रहे हैं। तुम्हारी यह लाल जिह्वा तुम्हारे अनुचरों को आदेश दे रही है—"लाओ—रक्त लाओ—पिलाओ जी भर कर पिलाओ।" और मां तुम्हारा

खप्पर संसार के वीरों को चुनौती दे रहा है—"है कोई ऐसा वीर जो इसे भर दे !"

(रत्नसिंह पीछे से आकर घंटा बजाता है। किरणमयी मुड़कर देखती है।)

रत्नसिंह—भाभी !

किरणमयी—हां देवर !

रत्नसिंह—इस अंधेरी रात में अकेली—

किरणमयी—जानते हो रत्नसिंह जिसके अंतःकरण में आदि शक्ति काली का निवास है—उसके लिए कहीं अंधकार नहीं है—वह कभी अकेली नहीं है। यह देखो (कटार दिखाती है) यह है क्षत्राणी की सहचरी—दुर्गा की जिह्वा की भांति रक्त की प्यासी।

रत्नसिंह—मैं तुम्हारे इस स्वरूप को प्रणाम करता हूँ, भाभी ! मैं आया तो था इस प्रस्तर की प्रतिमा से आदेश लेने—किन्तु—ऐसा जान पड़ता है—जैसे तुममें यह प्रतिमा सजीव हो उठी है।

किरणमयी—तुम मुझे पत्थर बना रहे हो, देवर !

रत्नसिंह—नारी को कौन समझ पाया है—भाभी ! उसके अनेक रूप हैं—वह कल्याणकारी अन्न-पूर्णा भी है—लक्ष्मी भी है—सरस्वती भी है, तो महाकाली, भैरवी, भयंकर भी है ! वह सुरसरि भी है, तो ज्वालामुखी भी है। उसकी कोमलता की ओट में दृढ़ता छिपी है—और दृढ़ता के अंतराल में कोमलता !

किरणमयी—यह नारी वन्दना छोड़ो और बताओ इस भयानक रात में देवरानी को अकेली छोड़कर महाकाली से क्या आदेश लेने आए हो ?

रत्नसिंह—देवि अन्तर्यामिनी है—वह स्वयं समझ लेगी—मेरे अन्तःकरण में उसके शब्द स्वयं गूंज उठेंगे।

किरणमयी—वे तो देवरानी के सुकुमार हाथों से सजाई हुई सुमन-शय्या पर भी सुनाई दे सकते थे। यहाँ क्यों आये—तुम आजकल इतने विक्षिप्त-से क्यों हो रहे हो?

रत्नसिंह—मेरे अपराध से सम्पूर्ण जैसलमेर का सर्वनाश होने जा रहा है—इसलिए भाभी! मैं काली से पूछने आया था क्या सचमुच वह प्यासी है—अगर है तो क्या वह केवल रत्नसिंह का रक्त पीकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती।

किरणमयी—तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

रत्नसिंह—यही कि क्या मुझे अलाउद्दीन के सामने आत्म समर्पण करके यह रक्तपात यहीं रोक लेना चाहिए?

किरणमयी—यह कायरता है देवर!

रत्नसिंह—नहीं भाभी, यह बलिदान है।

किरणमयी—नहीं, यह आत्महत्या है! बलिदान देना है तो युद्धभूमि में आओ! वहाँ महाकाली ने अपना खप्पर फैला रखा है—उसमें शत्रु का और अपना रक्त भरो। हम क्षत्रियों का बलिदान तो ऐसा ही होता है, देवर! क्षत्रियों की मर्यादा के विरुद्ध आत्म समर्पण करके तुम जैसलमेर के यश को कलंकित न करना, रत्नसिंह!

रत्नसिंह—हमारी शक्ति क्षीण है—संख्या-बल……

किरणमयी—चिंता न करो देवर! जब पुरुषों के हाथों में तलवार पकड़ने का बल न रहेगा—नारियाँ शस्त्र उठावेंगी—जैसे देवों के साहस छोड़ देने पर शक्ति ने असुरों से संग्राम किया था, और उन्हें पराजित किया था।

[पुरुष वेश में १५ वर्षीया राजकुमारी प्रभा का प्रवेश। वह एक शत्रुपक्ष के सिपाही को रस्सी से बांधे हुए है और उसे घसीटती ला रही है। सिपाही का मुख कपड़े से बन्द कर रखा है।]

प्रभा—आज तेरे रक्त से काली का खप्पर भरूंगी!

किरणमयी—कौन प्रभा? पुरुष के वेश में......

प्रभा—नहीं माँ—सैनिक के वेश में!

रत्नसिंह—इसे क्यों बाँधा है?

प्रभा—चाची जी, मैं और गिरिसिंह—

(रत्नसिंह का पुत्र गिरिसिंह जो १६ वर्ष का किशोर है, आता है।)

गिरिसिंह—नमस्कार पिता जी!

रत्नसिंह—हां तुम दोनों कहां से आ रहे थे?

गिरिसिंह—कुछ नहीं, पिता जी हम शिकार खेलने गए थे।

प्रभा—हां—चले तो थे सिंह और सुअरों की तलाश में—मिल गया आदमी की खाल पहने हुए यह जानवर। न जाने क्यों यह क़िले के नीचे खड़ा था। हमने इसे सम्हलने का भी अवसर नहीं दिया—तुरन्त बांध लिया।

रत्नसिंह—शाबास, बेटा!

गिरिसिंह—लेकिन पिताजी, इसमें अधिक पराक्रम प्रभा का ही है।

किरणमयी—मुझे आज इस बात का शोक नहीं रहा कि मेरे कोई पुत्र नहीं है। क्षत्राणी जिस लिए पुत्र की कामना करती है—वह काम मेरी बेटी पूरा करेगी।

रत्नसिंह—यह व्यक्ति कौन है?

गिरिसिंह—खोलो इसके मुंह का कपड़ा।

(गिरिसिंह सिपाही के मुंह पर बंधे कपड़े को खोलता है।)

रत्नसिंह—तुम कौन हो? सिपाही जान पड़ता है तुम्हें देखा है। सत्य बोलोगे तो तुम्हें प्राण दान मिल सकेगा।

(सैनिक कुछ नहीं बोलता)

रत्नसिंह—क्या तुम्हारे पास जिह्वा नहीं है?

सैनिक—है लेकिन उस पर मोहर लगी हुई है।

रत्नसिंह—यह तलवार की नोक उस मोहर को तोड़ देगी।

(तलवार की नोक उसके सीने पर लगाता है।)

रत्नसिंह—बोलो, तुम किस लिए आए थे?

सैनिक—पठान सिपाही अपने मालिक को धोखा नहीं दे सकता।

रत्नसिंह—तो चढ़ादो इसका सर देवि के चरणों में! गिरिसिंह......

गिरिसिंह—बहुत अच्छा पिता जी!

(बन्दी को पकड़ कर देवि की मूर्ति के आगे ले जाता है। पठान अपना सिर झुका लेता है। गिरिसिंह तलवार तानता है।)

किरणमयी—रुको गिरि, जो शत्रु प्रतिरोध नहीं करता वीर पुरुष का हाथ, उस पर वार नहीं करता। सैनिक तुम वीर हो—जो मरने को प्रस्तुत हो—किन्तु, स्वामी का भेद देने को तय्यार नहीं। मैं तुम्हें प्राण-दान देती हूँ! किन्तु, दिल्ली और जैसलमेर के संघर्ष काल में तुम्हें जैसलमेर का बन्दी बन कर रहना पड़ेगा। चलो अब हम गढ़ को चलें।

(सबका प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

———

छटा दृश्य।

[स्थान—वन की एक पगडंडी। समय—प्रभात। तांडवी सर पर पानी का घड़ा रखे आ रही है। घड़े को एक पेड़ के पास रख कर खड़ी हो जाती है।]

तांडवी—ओहो थक गई। ज़रा दम ले लूं। कैसा कठिन और विषम जीवन है हम राजस्थानियों का। एक घट पानी लाने के लिए मीलों चलना पड़ता है। एक वे हैं जिनके महलों में गुलाबजल की नहरें बहती हैं। यही तो है वह वैषम्य जिसने संसार की शांति भंग कर रखी है।

(महाकाल का प्रवेश)

महाकाल—उस अँधेरी रात के काले बादल—एक दिन प्रतिहिंसा के अंगारे बरसावेंगे, यह मैं समझता था, किन्तु इतनी जल्दी ही महानाश की लपटें प्रज्वलित हो उठेंगी, इसकी मुझे कल्पना न थी।

(बड़बड़ाता हुआ चला जा रहा है उसका ध्यान तांडवी की ओर नहीं जाता)

तांडवी—भैया महाकाल।

महाकाल—ओह, तू है, बहन! यहां अकेली क्या कर रही हो?

तांडवी—कुछ नहीं भैआ, पानी लेकर घर जा रही हूं!

महाकाल—घर जा रही है, पगली! अब यह छोटी सी झोंपड़ी भी हमें छोड़ देनी पड़ी। एक-एक तिनका एकत्रि कर के हमने जो घोंसला बनाया था—वह मनुष्य की हिंसा-वृत्ति की भेंट हो जायगा, बहन!

तांडवी—तुम कहते क्या हो, भैया!

महाकाल—कुछ नहीं, बहन, उधर देख —वह धूल के बादलों, से ज़मीन से उठकर आसमान की ओर बढ़ रहे हैं। वे बड़े वेग से हमारी ओर आ रहे हैं।

तांडवी—हाँ, सच तो कह रहे हो, महाकाल। यह कैसा बवंडर है!

महाकाल—बवंडर नहीं, बहन! यह हिंसा और स्वार्थ का तूफान है। यह शक्ति-शालियों का शक्तिहीनों पर आक्रमण है, यह सामर्थ्यवानों की स्वत्वहीनों को चुनौती है!

तांडवी—ऐसा जान पड़ता है—जैसे कोई सेना बढ़ी चली आ रही है!

महाकाल—हाँ, बहन, दिल्ली के सम्राट अलाउद्दीन ने जैसल-मेर पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना भेजी है। असंख्य सैन्य-दल हैं! अभी हमसे बहुत दूर है—फिर भी कैसे धूल के बादल मँडला रहे हैं? सूर्य की किरणें इन बादलों में लाली भर रही हैं।

ताण्डवी—तुम्हारी आँखों में भी लाली छा रही है, भय्या।

महाकाल—कुछ घड़ियों के बाद, जैसलमेर के प्रत्येक वीर की आँखों में लाली छा जायगी, ताण्डवी! चिंता नहीं हम मुट्ठी भर सैनिक हैं, फिर भी हम अपनी मान रक्षा के लिए यम से भी लोहा लेने को प्रस्तुत हैं।

ताण्डवी—चलो भैया, अब घर चलें देर होती है।

महाकाल—सचमुच देर हो रही है तांडवी! लेकिन अब घर जाना नहीं हो सकता। मुझे अभी जैसलमेर गढ़ में जा कर महारावल को सचेत करना है और फिर उसके बाद युद्धभूमि में जा कर खून की होली खेलनी है।

ताण्डवी—मैं तुम्हें योद्धाओं की मर्यादा के अनुसार युद्ध-भूमि में भेजूँगी! आज है भैया-दोज! घर पर रोली-चन्दन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

महाकाल—सैनिक का जीवन केवल एक मर्यादा जानता है और वह है उसका कर्त्तव्य। आज मुझे मेरे जैसलमेर के सिवा कुछ भी नजर नहीं आ रहा! आज मेरी तांडवी जैसलमेर के प्रत्येक रजकण में व्याप्त हो गई है। रोली-चन्दन नहीं बहन! अबतो रक्त से तेरे भैया का अभिषेक होगा। वह तलवार तेरे ही हाथ की अँगुलियों का प्रतीक है—यह मेरा अभिषेक करेगी! जब यह शत्रु के रक्त से नहावेगी—तब मैं इसे सर से लगाऊँगा! मुझे आशीर्वाद दे—और ला जरा थक गया हूँ पानी पिला दे।

(ताडवी घड़े में से पानी पिलाती है। पीछे से रत्नसिंह आकर खड़ा हो जाता है।)

रत्नसिंह—थोड़ा पानी मुझे भी मिलेगा, तांडवी!

ताण्डवी—क्यों नहीं रत्नसिंह जी, जैसलमेर राज्य के प्रत्येक ताल और बावड़ी में आपका ही पानी है। लीजिये!

(महाकाल के बाद रत्नसिंह को पानी पिलाती हैं।)

महाकाल—मैं आपकी सेवा में आने ही वाला था।

रत्नसिंह—क्यों?

महाकाल—क्या आप अभी तक सो रहे हैं?

रत्नसिंह—क्षत्रिय सोते हुए भी नहीं सोता, महाकाल!

ताण्डवी—तो आपको इधर क्षितिज पर उठते हुए लाल बादल क्यों नजर नहीं आ रहे?

रत्नसिंह—मैं उन्हीं बादलों से बातें करने आया हूँ—तांडवी!

महाकाल—अकेले ही?

रत्नसिंह—नहीं, मेरा विश्वास मेरे साथ है। युद्ध के पहले इस सेना के सेनापति को गले लगाना चाहता हूँ!

तांडवी—यह आप क्या कहते हैं, राजकुमार! वह शत्रु है।

रत्नसिंह—मुझे शत्रु की मनुष्यता पर भरोसा है। मैं अपने मित्र महबूब को जानता हूं। वह युद्धभूमि और प्रेम-भवन दोनों स्थानों में पूरा ईमानदार है।

[सहसा अनेक सशस्त्र सिपाही आकर इन तीनों को घेर लेते हैं।]

महाकाल—(तलवार खींच कर) सावधान! महाकाल की तलवार के साबित रहते, कोई रत्नसिंह जी पर हाथ न उठा सकेगा।

तांडवी—(लपक कर एक सैनिक की तलवार छीन लेती है और तान कर खड़ी हो जाती है।) कायरो! विश्वास-घात का उत्तर देना हमें आता है। (महबूब का प्रवेश)

महबूब—(सिपाहियों से) यह क्या है? तुम इस लिए नहीं आए हो कि हरेक राहगीर पर आक्रमण करो!

एक सैनिक—ये राजकुमार रत्नसिंह...

महबूब—हाँ, ये राजकुमार रत्नसिंह हैं, लेकिन यहाँ नहीं राजमहल में या युद्ध-भूमि में। जाओ, तुम अपने डेरे पर जाओ! (सैनिक चले जाते हैं)

रत्नसिंह—आओ मेरे मित्र महबूब!

(दोनों गले मिलते हैं)

तांडवी—इन लाल बादलों के पीछे भी प्रेम छिपा हुआ था, यह मैं नहीं जानती थी।

महबूब—युद्धभूमि में तलवारें मिलाने वाले-एकांत में हृदय भी मिला सकते हैं, बहन ! संसार में केवल हिंसा की आग ही होती, स्नेह का जल न होता तो यह कभी का भस्म हो जाता।

रत्नसिंह—मेरे साथ में गढ़ में चलते हो, महबूब ! तुम से बड़ी बातें करनी हैं।

महबूब—मुझे चलने में आपत्ति नहीं, लेकिन बादशाह के गुप्तचर न जाने क्या अर्थ लगावेंगे—इसलिये थोड़ी देर यहीं बैठकर…

महाकाल—यहां क्यों पास ही हमारी कुटिया है, आइए !

रत्नसिंह—हाँ-हाँ, चलो। ये मेरे विश्वस्त सैनिक हैं। यह है महाकाल और यह इनकी बहन तांडवी। बिलकुल नाम के अनु-रूप इनके काम हैं। मेरा बस होता तो इसे भारत का सम्राट बना देता।

महाकाल—क्यों कांटों में घसीटते हो, राजकुमार ! हम तो देश के तुच्छ सेवक हैं। जीवन में केवल एक बात सीखी है—वह यही कि मौत से न डरना। प्राणों में एक ही लालसा पाली है वह यही कि अपने देश के मान के लिये प्राण देना।

तांडवी—चलिए न ! आज भय्या-दोज है ! आज मैं एक नहीं, तीन भाइयों के टीका लगाऊँगी।

महबूब—तब तो मैं आज बड़ा सौभाग्यशाली हूं ! चलो—फिर तो जल्दी चलो ! (ताण्डवी घड़ा उठाती हैं)

महबूब—यह बोझ भी तुम उठाओगी !

ताण्डवी—गरीबों पर अनेक बोझ लदे हुए हैं, सेनापति ! किंतु वे दया की भीख नहीं माँगते। चाहे तो स्वाभिमान को बेच

कर वे बोझ हलका कर सकते हैं किंतु ऐसे हलके होने से तो मृत्यु श्रेयस्कर है। चलिये—देर न कीजिये। (सबका प्रस्थान)

[पट-परिवर्तन]

सातवां दृश्य

[स्थान—जैसलमेर का गढ़ एक दीवार के सहारे महारावल जीतसिंह खड़े हैं। कुछ सैनिक बड़े-बड़े पत्थरों के टुकड़े लाकर दीवार के सहारे रखते जा रहे हैं।]

महारावल—ठीक है, इसी तरह गढ़ की दीवार के किनारे-किनारे पत्थरों के बड़े-बड़े टुकड़ों का ढेर लगादो। जब शत्रु-सेना निकट आ जावे तो उस पर पत्थरों की वर्षा करो। हमारे तो ये ही तोप के गोले हैं।

(पत्थर ढोने वालों का प्रस्थान। तोप की आवाज़। महाकाल का प्रवेश और महारावल के चरणों में प्रणाम करना।)

महारावल - तुम्हारा नाम अमर हो, महाकाल !

महाकाल—महारावल जी, आप क्यों इतना कष्ट करते हैं ? हम लोग शत्रु से भुगत लेंगे। आप युवक-शक्ति पर विश्वास रखें।

महारावल—राजपूत की अन्तिम सांस में भी जवानी की आंधी होती है, महाकाल ! मुझे स्वर्ण-अवसर मिला है क्योंकि मेरे जीवन की सन्ध्या भी युद्धभूमि में होवेगी। मैं सूर्य के समान दिशाओं को लाल करता हुआ संसार से विदा लूँगा।

(फिर तोप की आवाज़ आती है)

महाकाल—शत्रु की तोपें गढ़ के बहुत निकट आ गई हैं। तोपों के पीछे पीछे उसकी सेना भी बढ़ी चली आ रही है। आप आज्ञा दें तो हम सम्मुख जा कर आक्रमण करें।

महारावल—युद्ध में केवल उत्साह से ही विजय नहीं होती। धैर्य और विवेक की भी आवश्यकता होती है महाकाल! उन तोपों के सामने तुम्हारी तलवारें कैसे जीतेंगी?

महाकाल—आपके आशीर्वाद से हम प्राणाहुति दे कर भी शत्रु की तोपों का मुख बन्द करेंगे! गढ़ के भीतर रह कर हमारी तलवार की प्यास नहीं बुझ पाती, महारावल!

(पुरुष सैनिक के भेष में प्रभा का प्रवेश! उसके पीछे गिरिसिंह भी है। दोनों महारावल के चरणों में प्रणाम करते हैं महारावल दोनों के सर पर हाथ रखते हैं।)

महारावल—वास्तव में आज आंखें तृप्त हुईं! कहो गिरिसिंह, तुम्हें अपनी बहन का कौन सा वेश अच्छा लगता है, जब यह लहंगा और चूनरी पहनती है तब, या जब सैनिक का साज सजाती है तब?

गिरिसिंह—मुझे तो बहन के हाथ में चूड़ियां ही अच्छी लगती हैं—तलवार तो है ही पुरुषों के लिये।

प्रभा—भैया, तुमने महाकाली की मूर्ति के आगे अनेक बार सिर झुकाया है—क्या उसके हाथ में लम्बी तलवार अच्छी नहीं लगती।

गिरिसिंह—उसे प्यार करने को जी नहीं चाहता, बहन! जब तुम तलवार पकड़ती हो तो ऐसा जान पड़ता है जैसे तुम्हें अपने भाई की शक्ति पर भरोसा नहीं रहा। हमें युद्ध-भूमि के बाद

एक घर की भी आवश्यकता है, बहन ! जब घर के सभी स्त्री-पुरुष युद्ध से थक जायेंगे तो दूसरे दिन लड़ने को बल कौन देगा ?

महारावल—तुम ठीक कहते हो गिरिसिंह—नारी को तलवार तभी पकड़नी चाहिये जब पुरुष-शक्ति हार चुके। जैसे देवताओं के हारने पर दुर्गा ने असि धारण की थी।

प्रभा—लेकिन स्त्रियों को शस्त्र पकड़ना आना चाहिये, बाबा जी !

महारावल—तभी तो मैं तुम्हें इस वेष में देख कर खुश हुआ हूं, बेटी ! आत्म-रक्षा के लिये सभी को शस्त्र पकड़ना आना चाहिये।

(एक ओर से दीवार गिरने की आवाज आती है)

महारावल—जान पड़ता है—उस मोर्चे पर शत्रु का आक्रमण प्रबल हो रहा है। चलो महाकाल, हम उधर चलें।

(महाकाल और महारावल का प्रस्थान)

गिरिसिंह—क्यों प्रभा बहन, तुम्हें मेरी बात बुरी लगी ?

प्रभा—पुरुष स्वार्थी है, भैया ! वह स्त्री को दुर्बल रखना चाहता है—वह चाहता है कि नारी में अपने पैरों पर खड़े होने का बल ही न आवे। नारी उसके हाथ का खिलौना बनी रहे।

(कालिका का सन्यासिनी के वेश में हाथ में त्रिशूल लिए प्रवेश)

कालिका—(गाती है)

जागो जागो !
जागो ओ [illegible] वालो !
[illegible] नारी,
[illegible] ।

अरि की आंखों की लाली,
कहती हैं शस्त्र उठा लो ॥
जागो जागो !
जागो ओ सोने वालो ।

जननी का वैभव-गौरव
मिटने से, वीर बचाओ ।
युग युग-से जो प्यासी है,
उस असि की प्यास बुझालो ।
जागो जागो !
जागो ओ सोने वालो !

मां तुम्हें पुकार रही है,
सब रण के साज सजा लो ।
बलिदान-राह के राही,
अमरों में नाम लिखा लो ॥
जागो जागो !
जागो ओ सोने वालो !

प्रभा—यह कैसा वेश है, भुआ !

तांडवी—इसी वेश में देश के सोते प्राणों को जगा देने की शक्ति है प्रभा । देश के कोने कोने में घूम कर सैन्य-संग्रह करने का कार्य तांडवी ने अपने ऊपर लिया है । उस कार्य में यह वेश सहायता देगा ! राजकुमारी ! मुझे मां की माला के लिये सिरों के फूल एकत्रित करने हैं ।

(महाकाल का सहारा लिए हुए जीतसिंह का प्रवेश । उनकी छाती में एक तीर चुभा हुआ है—जिसे वह हाथ से निकालने यत्न करते आ रहे हैं । दूसरी ओर से रत्नसिंह और मूलराज का प्रवेश)

मूलराज—पिता जी !

रत्नसिंह—यह किस दुष्ट का कार्य है ?

मूलराज और रत्नसिंह जीतसिंह को लिटा लेते हैं। जीतसिंह मूलराज की जांघ पर सिर रखकर लेटते हैं—रत्नसिंह धीरे धीरे तीर घाव से निकालता है, शेष सभी पास बैठते हैं)

जीतसिंह—आह ! (दर्द से कराहते हैं) सुनो मूलराज और देखो रत्नसिंह ! उधर सूर्य अस्त हो रहा है—और मैं भी जा रहा हूं ।

मूलराज—पिता जी !　　(कण्ठावरोध)

रत्नसिंह—अभी आप जैसलमेर की यश-पताका अनेक वर्षों तक उड़ती हुई देखेंगे, पिता जी ! (महाकाल से) महाकाल पालकी लाओ !　　(महाकाल का प्रस्थान)

जीतसिंह—हां—सो तो मैं देखूँगा ही। लेकिन यहाँ से नहीं ! (ऊपर उंगली उठाकर) वहाँ से। जहाँ वे नक्षत्र चमक रहे हैं वहीं पर मेरी दो आंखें भी जड़ जाएंगी और वे एक टक इस पहाड़ी दुर्ग की ओर देखेंगी। ओह, बड़ा दर्द है

[illegible] महाराज, आप हम लोगों में सदा जीवित रहेंगे। आपने अपने जीवन-काल में ऐसे न जाने कितने घाव सहे हैं। इतना निराश क्यों होते हैं।

जीतसिंह—इसलिए कि यह तीर शत्रु के तरकश का नहीं—

जैसलमेर गढ़ के किसी विश्वासघाती राजपूत का है । इसने केवल घाव ही नहीं किया बल्कि मेरे हृदय में आशंका की आंधी चला दी है । हम बाहर के शत्रु को जीत सकते हैं, किन्तु भीतर के (महाकाल पालकी लेकर आता है)

मूलराज—लीजिये, पिताजी पालकी आ गई ।

रत्नसिंह और मूलराज जीतसिंह को उठा कर पालकी में रखना चाहते हैं—लेकिन वह स्वयं ही उठकर खड़े हो जाते हैं)

जीतसिंह—अभी मेरे शरीर में खड़े होने का बल है ।

तांडवी—आप में सम्पूर्ण राजपूत जाति को खड़ा रखने का भी बल है । महारावल !

जीतसिंह—ओह ! (फिर गिरने लगते हैं । मूलराज और रत्नसिंह उन्हें अपने हाथों मे लेते हैं)

दूसरा अंक

पहला दृश्य

[स्थान—जैसलमेर का एक बन्दीगृह। समय—रात्रि। रहमान एक खिड़की में से झाँक रहा है।]

रहमान—ये चार महिने चार वर्ष के समान बीते हैं। युद्ध का मानों अन्त ही नहीं आना चाहता। एक तो राजपूतों की वीरता दूसरे मेरे भाई महबूब की सज्जनता—दोनों बातें इस युद्ध को कितनी अवधि तक ले जाएँगी इसका पता नहीं।

(सुरजनसिंह का प्रवेश)

सुरजन—कहिए रहमानखाँ साहिब! क्या सोच रहे हैं?

रहमान—सोच नहीं रहा, देख रहा हूं कि इस कारागार के बाहर सुन्दर चाँदनी फैली हुई है। आकाश और पृथ्वी पर सौंदर्य के नूपुर बज रहे हैं।

सुरजन—जान पड़ता है, आप कवि हो चले हैं।

रहमान—जब बाह्य जगत के प्रभाव और बन्धन मानव की आकांक्षाओं का मार्ग रोकते हैं तो हृदय कल्पनालोक में उड़ने लगता है, सुरजन! जब से मैं बन्दी बना हूं—तब से मेरी आशा स्वतंत्र होकर न जाने किन-किन स्वप्नलोकों में उड़ने लगी है।

गृह में रहने के लिए नहीं। उस रात्रि को, जब राजकुमारी प्रभा और कुमार गिरिसिंह मुझे अचानक बन्दी करके काली के मन्दिर में बलि चढ़ाने ले गए थे, उस समय भी मैंने आशा नहीं छोड़ी थी।

सुरजन—क्यों?

रहमान—मेरा विश्वास! मैंने जान-बूझकर ही अपने आप को कैद कराया था। मैं आप लोगों से मिलना चाहता था। अपने मन की बातें कहना चाहता था। इसके लिए यही स्थान मुझे उपयुक्त जान पड़ा।

सुरजन—लेकिन, यहां से बाहर जाने की भी आप को आशा है?

रहमान—क्यों नहीं? जब आप जैसे मेरे सहायक हैं, तो मैं समझता हूं, मेरा इस गढ़ में रहना दिल्ली की सेना के लिए लाभदायक ही है।

सुरजन—आप ठीक कहते हैं, अवसर आने पर मैं और मेरे एक सहस्र सैनिक आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं।

रहमान—वह समय दूर नहीं है जब हम जैसलमेर में महारावल की गद्दी पर सुरजनसिंह का अभिषेक करेंगे। दिल्ली के साम्राज्य की छत्रछाया में आने से इस पहाड़ी किले पर भी कंचन बरसेगा, सुरजनसिंह! सारे राजस्थान में महारावल सुरजनसिंह की धाक जम जावेगी।

सुरजन—किन्तु, अपने राज्य और देश के साथ विश्वासघात करने पर मेरी आत्मा धिक्कारेगी—सब लोग मेरी ओर घृणा से उंगली उठावेंगे मैं अपनी ही आंखों में गिर जाऊंगा।

रहमान—क्यों ? तुम्हें भी तो राजा बनने का अधिकार है सुरजनसिंह ! तुम्हारे शरीर में भी उसी वंश का रक्त है, जिसका मूलराज और रत्नसिंह में। रह गई बात विश्वासघात की, सो रात-दिन के रक्तपात से देश को बचाना विश्वासघात नहीं राजनीतिक कौशल है। व्यर्थ राजपूती दम्भ में सारी प्रजा को कष्टों की ज्वाला में झोंकना पागलपन है। तुम क्या समझते हो ?

सुरजन—हां, है तो ठीक। मूलराज और रत्नसिंह ने सम्राट का खजाना लूट कर "आ बैल मुझे मार" वाली बात की है। उनके पागलपन पर हजारों भोले सिपाही जानें लुटा रहे हैं।

रहमान—इसीलिये तो मैं कहता हूं, प्रजा को भी अपनी बात कहने का अधिकार होना चाहिये। युद्ध जैसे भयंकर कार्य में प्रवृत्त होते समय, केवल राजा की सम्मति ही सब कुछ नहीं है। आप ही बताइये—प्रजा के किस हित के लिए यह युद्ध लड़ा जा रहा है।

सुरजन—वे कहते हैं प्रजा की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये।

रहमान—उसकी स्वतन्त्रता पर किस दिन अलाउद्दीन ने आक्रमण किया था ? जैसलमेर के राजकुमार रत्नसिंह ने सम्राट का अपमान किया था—उसका दण्ड केवल उन्हें ही मिलना चाहिये। प्रजा को क्यों इस भयंकर संग्राम में घसीटा गया।

सुरजन—प्रजा पर जब तक [illegible] व्यक्तियों का अधिकार है, तब तक यह [illegible] चलेगा ही। यह तो सामाजिक व्यवस्था का दोष है, रहमान साहब ! इसमें हम आप क्या कर सकते हैं ? [illegible] की [illegible] की इच्छा पर अपना जीवन [illegible]

में डालना पड़ता है, तो हमें भी राजा की इच्छा पर प्राण न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहना पड़ता है।

रहमान—छोड़ो इन बातों को! यह बताओ युद्ध के क्या समाचार हैं?

सुरजन—महारावल जीतसिंह कुछ घड़ियों के महमान हैं। वे गढ़ की रक्षा के प्रबन्ध का निरीक्षण करते समय घायल हो गए। विषैले तीर ने उनके जीवन को संकट में डाल दिया है।

रहमान—शाबाश महबूब! मैं समझता था वह रत्नसिंह के कारण दया करेगा, किन्तु वह पठान है और पठान युद्ध भूमि में पूरा ईमानदार रहता है।

सुरजन—लेकिन महारावल के शरीर पर आपकी सेना के तीर आघात नहीं कर सकते थे, यह तो मेरे एक साथी का काम था। समय आ रहा है जब आप इन सीखचों के बाहर होंगे।

(महाकाल का प्रवेश। रहमान खिड़की के पास से हट जाता है—हटता-हटता दर्शकों की दृष्टि से ओझल हो जाता है)

महाकाल—समय आ गया है, सुरजनसिंह, जब तुम्हें इन सीखचों के पीछे खड़ा होना पड़ेगा। (सुरजनसिंह तलवार निकालता है)

महाकाल—सावधान!

(तलवार निकालता है, और साटी बजाता है। कई सैनिक आते हैं, जिनके हाथों में नंगी तलवारें हैं)

महाकाल—सुरजनसिंह, बचने का प्रयत्न न करो। देश के साथ विश्वास-घात करने का मूल्य तुम्हें देना पड़ेगा। तुम्हारी तलवार जैसलमेर का अभिमान हो सकती थी उसी को तुमने

जैसलमेर का अपमान बनाया है। दो यह तलवार मुझे।

(सुरजनसिंह तलवार देता है)

सुरजन—मुझ से अपराध हुआ, मुझे क्षमा कर दो महाकाल!

महाकाल—न्याय करना राजा का काम है, सुरजनसिंह! मैं तो उनका आज्ञाकारी सैनिक हूं।

सुरजन—महाकाल, तुम महारावल से अधिक शक्तिशाली हो।

महाकाल—ओ नरक के कीड़े, अपने मन का विष मेरे हृदय में प्रवेश करना चाहता है। तेरी इच्छाएं तुझे ही नरक में ले जा सकती हैं—महाकाल को नहीं।

सुरजन—सोचो महाकाल! इन राज्यों का निर्माण किस प्रकार हुआ है—इनका असली स्वामी कौन है?

महाकाल—मैं यह कुछ नहीं सुनना चाहता, सुरजन! अधिक सोचने के कारण ही मनुष्य पाप करता है—और पाप को पुण्य की परिभाषा देता है। संसार को धोखा देता है और अपने आप को भी, चलो! (सब का प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

मिल सका। बात क्या है, सुरजनसिंह जी ने तो कहा था—वह उन्हें शीघ्र ही मुक्त करा लेंगे।

बलवीरसिंह—भाई शमशीर बहादुर, आदमी सोचता कुछ है और होता कुछ है। उस दिन हमारे नायक सुरजनसिंह गए थे रहमान खाँ साहब को सीखचों के बाहर लाने—और स्वयं ही उन सीखचों में बंद हो गए।

शमशीर—सच!

बलवीर—बिलकुल सच! वह महकाल ऐसा भयानक आदमी है कि हमारे सारे षड़यंत्रों को विफल कर देता है। न जाने कहाँ से वह भूत की भाँति उपस्थित हो जाता है—और हमारे मनसूबों को पानी में मिला देता है। फिर भी हम निराश नहीं हैं। हमारे प्रयत्न का फल भविष्य बतलाएगा।

शमशीर—उधर देखो वह कौन आ रही है!

बलवीर—अहा, बिल्कुल स्वर्ग की अप्सरा है! और उसके साथ वह बालिका जैसे एक गुलाब का फूल बालिका का रूप रख कर चल रहा है।

शमशीर—वह हैं हमारे सेनापति महबूब की बेगम साहिबा—अनवरी बेगम—और यह है उनकी पुत्री अख्तरी। सुनो, मुझे एक बात सूझी है!

बलवीर—क्या?

शमशीर—हम इन्हें गिरफ्तार करके छिपायें!

दलवीर—इससे क्या होगा ?

शमशीर—हम महबूब साहब से कहेंगे राजकुमार रत्नसिंह ने आपकी बेगम साहिबा को गिरफ्तार कर लिया है। कल जब राजकुमार हमारे सेनापति से राजा की तरह मिलने आएंगे तो वह बंदी बना लिए जाएंगे। जैसलमेर का बल और उत्साह इससे क्षीण हो जाएगा।

दलवीर—बात तो ठीक है। उधर महारावल भी अंतिम साँसें ले रहे हैं! लो, वे इधर ही आ रहे हैं। तुम जरा छिप जाओ। मैं अपने एक और साथी को बुला लूं।

(दोनों का प्रस्थान अनारगी और अजारगी का प्रवेश)

देने वाला जल होता है। जिन आँखों में कभी क्रोध के अंगारे धधकते हैं, उन्हीं में प्रेम का समुद्र लहराता है।

अख़्तरी—क्यों माँ हम राजपूत नहीं बन सकते ?

अनवरी—क्यों नहीं ? अगर हम राज-स्थान को अपनी माँ समझने लगें तो हम राजपूत हो जाएं। और वैसे तो जो भी वीर है—उसे हम राजपूत कह सकते हैं।

(एक मन्दिर में शंख और घंटा बजने की ध्वनि आती है। कुछ आरती-सी सुनाई पड़ती है—जिसकी ध्वनि साफ नहीं सुनाई देती है।)

अख़्तरी—कैसी प्यारी आवाज़ है, माँ !

अनवरी—पास के मन्दिर में लोग पूजा कर रहे हैं।

अख़्तरी—मेरे मन के तार भी बज उठे हैं। मैं इस वक्त, गीत गाए बिना नहीं रह सकती !

अनवरी—ज़रूर गाओ, बेटी।

अख़्तरी—(गाना)

मन खुशी के गीत गाले

उड़ रहा है क्यों गगन में
है नहीं आधार जिसमें,
भूल नभ के स्वप्न पगले,
नीड़ अवनी पर बसाले !

मन खुशी के गीत गाले !

डर नहीं, यदि दूर तक पथ
में छिड़ा मरु-थल भयानक।
है यहाँ भी स्नेह का सर
प्यास अपनी तू बुझा ले,
मन खुशी के गीत गाले।

नीर है शोभा प्रकृति की
प्रेम है जीवन जगत का
प्रेम से अपने हृदय को
तू तालाब अब बना ले।

(दोनों जाना चाहती है। इतने में दो सैनिकों का प्रवेश। वे तलवारें नगी करते है।)

बलवीर—तुम बन्दी हो।

अनवरी—किस के ?

बलवीर—जैसलमेर के महारावल के।

अनवरी—राजपूतों ने युद्ध-भूमि में पौरुष दिखाने के स्थान पर निरीह स्त्रियों पर हाथ उठाना कब से प्रारम्भ कर दिया ? मुझे तो सन्देह है कि तुम राजपूत हो !

(ताडवी का प्रवेश)

तांडवी—वास्तव में ये राजपूत नहीं, नरक के कीड़े हैं। मनुष्य नहीं पशु हैं।

बलवीर—यह हमारे शत्रु के सेनापति की बेगम हैं। हम इन्हें बन्दी करेंगे।

तांडवी—किसकी आज्ञा से।

बलवीर—युद्ध में अनेक कार्य बिना आज्ञा के भी किये जाते हैं। अनेक बार सैनिकों को अपने मस्तिष्क से भी काम लेना पड़ता है। तुम कौन हो हमारे कार्य में हस्तक्षेप करने वाली !

तांडवी—मैं कौन हूँ हस्तक्षेप करने वाली ! मैं कुछ भी न सही, एक राजपूत-बाला हूं। मैं पुरुष को मर्यादा सिखाने वाली उसकी माँ हूं—ये भी तुम्हारी मां हैं—जिन्हें तुम बन्दी बनाना चाहते हो। जिस मां का तुमने दूध पिया है—उसमें और इनमें कोई भेद नहीं है सैनिक ! इनके चरणों में प्रणाम करो।

बलवीर—सैनिक भावुकता की बाढ़ में नहीं बहता ! यह भावुकता सैनिक के लिये दुर्बलता है, सन्यासिनी ! हम अपना कार्य करेंगे।

तांडवी—मैं जैसलमेर के क्षत्रियत्व को कलंकित न होने दूंगी।

(तांडवी तुरही बजाती है। पांच सैनिक हाथ में नंगी तलवारे लिए आते हैं।)

ताण्डवी—इन्हें बन्दी करो।

(बलबीर और उसका साथी उन पांचों पर आक्रमण करते हैं—द करते हुए सब सनिकों का प्रस्थान।

तांडवी—चिंता न करो, बहन! मेरे वीर सैनिक उन्हें ठिकाने लगा देंगे। तुम मेरे साथ आओ! (सब का प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

(स्थान—दिल्ली की सेना के शिविर के पास एक मैदान। समय-सन्ध्या। महबूब और रत्नसिंह हाथ में हाथ पकड़े हुए प्रवेश करते हैं।)

महबूब—भाई रत्नसिंह, मुझे महारावल जी के स्वर्ग-वास का बड़ा दुःख है। वह मनुष्य नहीं देवता थे!

रत्नसिंह—संसार में कौन ऐसा उदार, स्नेह-शील और वीर पिता पाता है। उनके जीवित रहते हमने जीवन का बोझ अनुभव ही नहीं किया। अब अचानक ज्ञात हुआ है कि मनुष्य के अनेक उत्तरदायित्व हैं।

महबूब—ठीक है भाई! पिता शब्द ही आश्वासन, आशीर्वाद और प्रोत्साहन देता जान पड़ता है। जैसे एक बड़े वृक्ष की डालियों पर अनेक पक्षी अपने घोंसले बनाते हैं—उसी तरह गृहस्थी में जो सबसे बड़ा होता है, उसके स्नेहांचल में घर के सभी सदस्य सुख की साँस लेते हैं।

रत्नसिंह—स्वार्थ ने संसार के हरे-भरे बाग में तीखे कांटे बिछा दिये हैं। मनोहर, सुखद, स्नेह-भवन में भयंकर अग्नि-प्रज्वलित कर दी है। आज सम्पूर्ण मनुष्यता कराह रही है।

महबूब—ठीक है भाई! इस समाज की व्यवस्था और मानव की धारणायें ऐसी हो गई हैं कि कभी-कभी उसे अपनी आत्मा के विरुद्ध भी कार्य करना पड़ता है।

रत्नसिंह—ठीक है, जैसे आपको मेरे विरुद्ध संग्राम करना पड़ रहा है। मैं तो चाहता था कि आत्म-समर्पण करके इस युद्ध-ज्वाला को शांत कर दूं।

महबूब—तो शायद मेरे हृदय में आपके प्रति आदर कम हो जाता।

रत्नसिंह—तो मैं समझता मेरे मित्र ने मेरे प्रेम का अपमान किया है। लेकिन ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे, स्वर्गीय महारावल ने ऐसा अवसर नहीं आने दिया उन्होंने मेरी एक न चलने दी, कहा—मुझे अपने वंश-नाश की चिंता नहीं—मुझे जैसलमेर के सर्वनाश की भी प्रवाह नहीं, मुझे सोच है तो केवल राजपूत-जाति की प्रतीष्ठा की। वे बोले जो जन्मा है वह मरेगा, मैं मृत्यु को केवल एक खेल समझता हूं—इसलिये उससे डरने वाले को मूर्ख और कायर मानता हूं।

महबूब—वास्तव में वे बड़े वीर पुरुष थे। आदर्श क्षत्रिय थे! ऐसे मनुष्य थे जो जातियों को जीवित रखते हैं।

रत्नसिंह—इसमें क्या संदेह! वे हमसे कहते थे बेटा, क्षत्रिय को ऐसी मौत मरना चाहिये, जिस पर संसार ईर्षा करे। पुरुष को ऐसा रास्ता चलना चाहिए—जिसका अनुसरण संसार

रत्नसिंह—नहीं, मुझे नए रावल के प्रति राजभक्ति की शपथ लेनी है। समय पर न पहुँचा तो लोग भाई साहब के हृदय में मेरे प्रति ज़हर भरेंगे।

महबूब—तब तो तुम्हें जाना ही चाहिए। मैं चाहता था तुम्हें डेरे पर ले चलता। अनवरी तुम्हें याद करती थी।

रत्नसिंह—ओह भाभी साहिबा यहाँ हैं!

महबूब—हाँ, कल ईद थी न! आज तक एक भी ईद ऐसी नहीं बीती, जब हम एक-दूसरे से अलग रहे हों। इसी लिए इस बार यहाँ आ गई है।

रत्नसिंह—यह तो बड़ी खुशी की बात है। मेरे लिए दिल्ली के लड्डू लाई होंगी।

(हंसता है)

महबूब—यह तुम उन्हीं से पूछना। अख्तरी तो मेरे सर हो रही है कि मैं चाचा जी के पास जाऊंगी। गिरसिंह को तो वह बहुत याद करती है। वह भोली इस बात पर आश्चर्य करती है कि हम एक दूसरे की जान लेने को उतारू हैं।

रत्नसिंह—कल मैं उन्हें दुर्ग में ले जाऊंगा। भेजोगे, महबूब! करोगे इतना भरोसा मेरा!

महबूब—पागल विश्वास करके हानि उठाने में भी आनन्द है, रत्नसिंह! जिसे एक बार मित्र कहा है—उसे धोखेबाज़, झूठा और स्वार्थी समझने का पाप महबूब नहीं कर सकता।

रत्नसिंह—तो कल उन्हें तय्यार रखना। युद्ध प्रारम्भ होने के पहले उन्हें ले जा कर उनके पवित्र चरणों से अपना घर पवित्र करूंगा। अच्छा तो विदा।

(रत्नसिंह जाता है—महबूब उसकी तरफ एक-टक देख रहा है। अलाउद्दीन का प्रवेश।)

अलाउद्दीन—महबूब !

महबूब—(चौंक कर) ओह बादशाह सलामत ! आदाब ! (झुक कर अभिवादन करता है) कब आए दिल्ली से ?

अलाउद्दीन—जब तुमने देखा। मैं समझता था महबूब अपने कर्त्तव्य के प्रति ईमानदार है।

महबूब—आप ठीक समझते हैं, जहाँपनाह ! उसने कर्त्तव्य में कभी ढील नहीं की।

अलाउद्दीन—छः मास हो गए, इस छोटे से पहाड़ी दुर्ग पर तुम अधिकार नहीं कर सके। अलाउद्दीन ने कभी इतना विलम्ब नहीं सहन किया। मैं तुरन्त परिणाम चाहता हूं।

महबूब-शत्रु भी कुछ शक्ति रखते हैं और लड़ना जानते हैं-वे राजपूत हैं। भगवान कृष्ण के वंशज हैं।

अलाउद्दीन—अलाउद्दीन उनसे अनेक बार युद्ध-भूमि में मिला है, महबूब ! और वह उन्हें जीतने का रास्ता भी जानता है।

महबूब—क्या ?

अलाउद्दीन—चतुराई ! रत्नसिंह तुम पर भरोसा करता है, उसका उपयोग करो। तुम उससे नित्य मिलते हो—यह मैं जान चुका हूं—एक दिन उसे बन्दी बना लो।

महबूब—मैं उसे युद्ध-भूमि में पराजित करूँगा।

अलाउद्दीन—तुम झूठे हो, महबूब ! तुम जान-बूझ कर मे धन और सेना को नष्ट कर रहे हो।

महबूब—आप मुझ पर असत्य आरोप लगा रहे हैं।

अलाउद्दीन—मेरा आरोप पूर्ण रूप से सत्य है ! यदि नहीं तो प्रमाण दो, महबूब ! मैं तुम्हारी वीरता और युद्ध-निपुणत देखना चाहता हूं।

महबूब—ठीक है, कल सन्धया तक आपको इस युद्ध क परिणाम मिल जावेगा ! आपकी आँखों के आगे कल ऐस भयङ्कर दृश्य उपस्थित होगा जैसा आपने आज तक देखा हो।

अलाउद्दीन—मुझे तुम पर गर्व है, महबूब ! तुम रत्नसिंह की मित्रता के कारण अपना कर्त्तव्य भूल रहे थे। चलो, अभ तुम से बहुत बातें करनी हैं।

(दोनों का प्रस्थान)

[पट-परिवर्तन]

चौथा दृश्य

[स्थान--जैसलमेर दुर्ग की एक दीवार के पास। समय प्रभात! महारावल मूलराज और महाकाल का सैनिक वेश में प्रवेश]

मूलराज—सर पर राजमुकुट को धारण करते ही ऐसा जान पड़ने लगा है महाकाल, कि जैसे किसी ने मेरे सर पर हिमालय पहाड़ रख दिया हो!

महाकाल-महारावल, आप स्वर्गीय जीतसिंह के साक्षात् स्वरूप हैं—आपके मस्तक पर स्थान पाकर यह राजमुकुट अपने आप को धन्य समझता है। रह गई बात बोझ अनुभव करने की, सो महारावल, जो इसकी मर्यादा को समझते हैं और उसका पालन करना चाहते हैं, उनके मान और यश की चिन्ता करनी पड़ती है।

मूलराज—जब तक पिता जी रहे हम तो अपने आपको बालक ही समझते रहे। तलवार से मनमाने खेल करते, युद्धों में खून की होली खेलते, शत्रु न मिलता तो वन के पशुओं को छेड़ते। यही हमारी दिनचर्या थी।

महाकाल—क्षत्रिय को ऐसे ही खेल खेलने चाहिएँ, महारावल! जिस राष्ट्र का शारीरिक बल नष्ट हो जाता है, पुरुषार्थ और साहस कम हो जाता है, वह पराधीनता के पाश में पड़ता है—इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है। हमारा राजस्थान पराधीनों में अपना नाम नहीं लिखाएगा। इसका मुझे निश्चय है।

मूलराज—किन्तु, महाकाल, मुझे तो अपने राजस्थान की चिन्ता हो उठी है। पुरुषार्थ, वीरता और शारीरिक शक्ति के रहते हुए भी इसमें एक्य-बल चाहिए। हमारे सथियों में व्यक्ति-गत अकांक्षाओं के अँकुर फूट निकले हैं। ये अँकुर बड़े होकर हमारे देश का सर्वनाश कर देंगे, महाकाल!

महाकाल—आकी आशंका यथार्थ है, महारावल! ऊंचे पदों और राजमुकुटों के प्रति कुछ लोग लोभ की दृष्टि से देखने लगे हैं—इसलिए षडयन्त्र पनपने लगे हैं—विश्वास-घात के साँप फन फैलाने लगे हैं।

मूलराज—हाँ, महाकाल! हमारा सम्पूर्ण वातावरण विषाक्त हो गया है। हम देश और जाति के मान से भी अधिक व्यक्तिगत इच्छाओं को महत्व देने लगे हैं। आज अलाउद्दीन ने हमरे देश के इतने बड़े भाग पर अधिकार कर रखा है, वह अपने शास्त्र-बल के कारण नहीं—बल्कि हमारी ऐक्य-बल की निर्बलता के कारण।

महाकाल—ठीक तो है छोटे से जैसलमेर के दुर्ग पर छः मास से घेरा डाले रहने पर भी दिल्ली की असंख्य सेना आज तक कुछ न कर सकी, तो यदि सम्पूर्ण देश का क्षत्रिय तेज एकत्रित हो तो किसका साहस है कि इसके आगे आँख उठा सके।

मूलराज हम लोग अपने स्वाभिमान की छोटी छोटी ज्योतियाँ अलग अलग टिमटिमाते हुए—अपनी ज्वाला में

स्वयं जल रहे हैं। एक के बाद एक दीपक बुझता जाता है। मुझे डर है कि थोड़े दिनों में सम्पूर्ण भारत में भयंकर अंधकार न छा जाये।

(नेपथ्य में तुरही की आवाज़ आती है। युद्ध के दमामे बजते हैं। तोप की आवाज़ आती है।)

मूलराज—लो महाकाल, युद्ध की तुरही बज गई। तोपों के मुंह खुल गए। आज मेरे नेतृत्व में पहला युद्ध है - माहकाल बचपन के साथी का मान रखना।

महाकाल—मैं इस राजमुकुट के मान और इस भूमि की रज की प्रतिष्ठा को मित्रता बन्धुत्व और संसार के सारे संबन्धों से अधिक मान देता हूं—महारावल! महाकाल इसलिए प्राणों पर नही खेल रहा कि आपने मुझपर बचपन से स्नेह रखा है। एक साधारण सैनिक को एक राजकुमार का प्रेम मिला है, इसके लिए वह अपने आपको सौभाग्यशाली समझता है लेकिन वह इस भूमि पर पैदा हुआ है—और जो व्यक्ति राजमुकट को धारण कर के मेरे सामने खड़ा है—वह इस भूमि और महारावल दोनों की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने प्राण उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है।

मूलराज—धन्य हो महाकाल! तुम केवल वीर ही नहीं हो, विवेकशील भी हो। अभी तक रत्नसिंह नहीं आया?

महाकाल—वे तो बहुत सवेरे ही ब्राह्म-महूर्त में शत्रु के डेरे पर चले गये थे।

मूलराज--महबूब से मिलने । अजीब बावला है हमारा रत्न ! मुझे डर है महाकाल कि महबूब की मित्रता उसे महँगी न पड़े।

महाकाल—क्या अभी तक महबूब की मनुष्यता के प्रमाण हम नहीं पा चुके ?

मूलराज--लेकिन सुना है कल अलाउद्दीन आ गया है। ह व्यक्ति युद्ध के समय धर्म-अधर्म, नीति-अनीति का विवेक नहीं रखता। वह केवल साध्य को देखता है, साधनों की अच्छाई बुराई नहीं देखता । इस लिए मुझे डर है कि "हीं रत्नसिंह संकट में न पड़ जावे। वह हमारे सैनिकों का प्राण है, उसकी एक क्षण की अनुपस्थिति भी हमारी सेना का उत्साह भंग कर देती है।

महाकाल—आप ठीक कहते हैं, महारावल ! मैं उनका पता करता हूं।

(रत्नसिंह का प्रवेश)

मूलराज—ओह तुम आगए, भैया ! मैं तो आशंका से कांप उठा था। युद्धकाल में किसी भी व्यक्ति का अत्याधिक विश्वास उचित नहीं होता।

रत्नसिंह—क्या आप मुझे महबूब का विश्वास न करने को कहते हैं ?

मूलराज—कभी ऐसी दुर्घटना घट सकती है जिस पर तुम्हारे महबूब का वस न चल सके।

रत्नसिंह—जैसलमेर और दिल्ली का यह युद्ध इस युग के

भारतीय इतिहास में अप्रतिम है। भाई साहब, दोनों ओर से किसी व्यक्ति ने कायरतापूर्ण कार्य नहीं किया है । हम दिन-भर युद्ध करते हैं--शाम को गले मिलते हैं—बिल्कुल महा-भारत का युग आ गया है। वे मेरे साथ धोका करेंगे ऐसी आशंका क्यों करते हो, भाई साहब !

मूलराज—भैया, राजा को आँखें खोल कर चलना पड़ता है, क्या तुम नहीं जानते कि महबूब के अतिरिक्त भी एक और शक्ति यहाँ काम कर रही है, जो शस्त्र चलाए बिना ही हमारी हत्या कर रही है ?

रत्नसिंह—शायद ?

मूलराज—शायद नहीं निश्चत रूप से। वह शक्ति है, शत्रु की भेद-नीति ! हमें अपनी बगल में खड़े हुए व्यक्तियों पर भी पूरा भरोसा नहीं करना चाहिये—फिर शत्रु तो शत्रु है और अब स्वयं अलाउद्दीन के आजाने से परिस्थिति बदल गई है। मेरी आज्ञा है—अब तुम महबूब से न मिल सकोगे !

रत्नसिंह—यह आपका अन्याय है, भाई साहब ! मैं जानता हूं—इस आज्ञा के पीछे आपका मेरे प्रति स्नेहातिरेक ही है, फिर भी मैं अपने मित्र के प्रति जरा सा भी अविश्वास करके वहाँ जाना नहीं छोड़ना चाहता । लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि आपकी आज्ञा को भंग करने का मुझे अवसर नहीं आएगा ।

मूलराज—क्यों ?

रत्नसिंह—अलाउद्दीन और महबूब का निश्चय है कि

आज संध्या तक इस युद्ध का फ़ैसला कर दिया जाए। आज वे पूरे बल से अक्रमण करेंगे।

महाकाल—हम प्रस्तुत हैं, रत्नसिंह जी! हमारी शक्ति अजर है—हमारा विश्वास अटल है। हमारी विजय भी सुनिश्चित है।

मूलराज—(आकाश की ओर देख कर) पूज्य पिता जी, आज अपने पुत्रों का पराक्रम देख कर आप की आत्मा तृप्त होगी! आप स्वर्ग में बैठे हुए भी हमें आशीर्वाद दे रहे हैं—यह हम प्रत्येक क्षण अनुभव करते हैं।

(गिरिसिंह और अख्तरी का हाथ पकड़े हुए प्रवेश।)

मूलराज—यह कौन बालिका है!

रत्नसिंह—यह है महबूब की सुपुत्री! बिल्कुल स्वर्ग का एक फूल! देखो न भाई साहब आप कहते थे मैं महबूब का भी भरोसा न करूं। महबूब की बेगम अनवरी और यह बच्ची आज हमारे पाहुने हैं।

मूलराज—धन्य हो महबूब! युद्ध काल में शत्रु की मनुष्यता पर इतना विश्वास! आओ बच्ची मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारा भगवान कल्याण करे!

(कई तोपों की आवाज़)

महाकाल—अब समय नहीं है। शत्रु ने पूरे बल से आक्रमण कर दिया है। हमें जवाबी हमला करना चाहिए।

मूलराज—हाँ हाँ चलो!

(रत्नसिंह, महाकाल और मूलराज का प्रस्थान)

गिरिसिंह—अख्तरी, तुम महल में जाओ ! मैं युद्ध करने जाऊंगा !

अख्तरी—ओहो, जैसे तुम अकेले ही दिल्ली जीत लोगे ! रहने दो यह युद्ध, चलो मेरे साथ !

(हाथ पकड़ कर घसीट ले जाती है ।)

[पट-परिवर्तन]

पांचवां दृश्य

[स्थान—जैसलमेर दुर्ग में बन्दी-गृह के सामने का भाग । बन्दी-गृह का एक सींखचा नज़र आ रहा है । सींखचों के पीछे रहमान खड़ा है ।]

रहमान—ऐसा जान पड़ता है जैसे मुझे यहां हार खानी पड़ेगी । ६ महीने बीत चुके अभी तक न तो युद्ध का परिणाम निकला, न मुझे ही अपने कार्य में सफलता मिली ।

(तांडवी का सन्यासिनी के वेश में प्रवेश, तांडवी को देख कर रहमान सींखचों के आगे से हट जाता है । जिसमे वह दर्शकों की ओर तांडवी की दृष्टि से ओझल हो जाता है ।)

तांडवी—कैसा भयानक युद्ध हो रहा है आज । जैसे एक विशाल तालाब का बाँध तोड़ दिया गया हो । बिल्कुल अन्धे हो कर दुर्ग पर अग्नि वर्षा की जा रही है । एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं । ऊपर से भी भयंकर बाण वर्षा हो रही है । दिल्ली के सैनिक मृत्यु की चिंता न करते हुये अपने साथियों की लाशों पर पैर रखते आगे बढ़ रहे हैं । ऐसा जान पड़ता है, आज इस युद्ध का परिणाम निकल आवेगा । जैसलमेर

का जीवन आशा और निराशा की भूल-भुलैयों के पार हो जायेगा ।

(खून से लथ-पथ महाकाल का प्रवेश ।)

महाकाल—तांडवी तू यहां क्या कर रही है !

तांडवी—मैंने सोचा यह स्थान अरक्षित छोड़ देने योग्य नहीं है । तुमने बन्दी-गृह से अपने सारे विश्वस्त सैनिकों को युद्धक्षेत्र में बुला लिया है । यह भूल ही गये हो कि यहां सुरजन और रहमान जैसे हिंसक भालू बन्द हैं । अवसर पा कर ये क्या न कर डालें ।

महाकाल—बहन, इस समय दुर्ग की रक्षा में हमें पूरी शक्ति लगा देनी है । हमारी सेना बहुत थोड़ी है और शत्रु का आक्रमण अत्यन्त भीषण ।

तांडवी—किन्तु भैया—ऐसा न हो कि हमारी सेना दोनों ओर से घिर जावे । बाहर से तो आक्रमण हो ही रहा है कहीं भीतर भी विद्रोह न खड़ा हो जाय । इसलिये अच्छा है कि हम रहमान और सुजरन जैसे भयानक व्यक्तियों को समाप्त कर दें । न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी !

महाकाल—यह युद्ध के नियमों के विरुद्ध है बहन ! युद्ध के बन्दियों को मारा नहीं जा सकता ।

तांडवी—ओह, हमारी इसी आदर्श-पालन की वृत्ति ने हमारा सर्वनाश किया है ।

महाकाल—हम अपने आदर्शों के कारण ही जीवित हैं तांडवी । संसार के पर्दे से अनेक राष्ट्र और संस्कृतियां सर्वथा लुप्त हो गईं । हमारी आर्य-संस्कृति जीवित है तो केवल अपने

सांस्कृतिक बल के कारण ही क्षणिक पराजयों ने हमारी आत्मा के बल को क्षीण नहीं किया। यहां पर राज्यों के भस्मावशेषों पर नवीन साम्राज्य स्थापित हुए हैं। क्षणिक-भय को निर्मूल करने के लिए हम कोई कायरतापूर्ण कार्य नहीं कर सकते। चलो तुम्हें भी मेरे साथ चलना होगा।

तांडवी—कहां ?

महाकाल—दुर्ग के बाहर ! मैं देखता हूँ गढ़ के भीतर रह कर हम आज के आक्रमण से इसकी रक्षा नहीं कर सकेंगे। हमें बाहर से भी आक्रमण करना होगा।

तांडवी—ठीक है, भैया ! मैंने इतने महीनों के परिश्रम से एक छोटी सी सेना तैयार कर ली है। मैंने सोचा था किसी अत्यन्त संकट के समय उसका उपयोग करूंगी।

महाकाल—तो ठीक है आज ही वह अवसर आ गया है। मैं भी अपने साथियों को लेकर गुप्त द्वार से बाहर चलता हूं, तू भी चल। अलाउद्दीन की सेना बाहर की तरफ से आक्रमण होने की कल्पना भी न कर सकी होगी। अचानक उधर से गोलियों और तीरों की वर्षा होते देखकर वह साहस छोड़ कर भाग जायेगी।

तांडवी—निश्चय ही भैया ! आज हमारी विजय होगी।

(महाकाल और तांडवी का प्रस्थान। मूलराज और रत्नसिंह का प्रवेश।)

मूलराज—मेरा विचार है कि हम गढ़ का फाटक खोल कर शत्रु से मैदान में मोर्चा लें और किसी तरह दुर्ग की रक्षा करना असम्भव है। शत्रु की तोपें दुर्ग की दीवारों को तहस

नहस किये दे रही हैं। हमें अपने वीर योद्धाओं की बलि देकर भी इन तोपों पर अधिकार करना चाहिये। चाहे कितनी ही कीमत देनी पड़े, हमें देनी चाहिये।

रत्नसिंह—भैया धैर्य न छोड़ो। शत्रु की सेना इस दुर्ग के भीतर पैर नहीं रख सकती और ईश्वर न करे वह आ भी सके तो हम लोग उसके स्वागत को प्रस्तुत हैं।

मूलराज—महाकाल कहां है ?

रत्नसिंह—पता नहीं। एक पहर पहले वह मुझे मिला था। कह रहा था मैं एक खेल दिखाऊंगा। वह भी—एक रहस्य है।

मूलराज—सचमुच दोनों भाई बहन चलते फिरते तूफान हैं।

(एक ओर से दीवार के गिरने की आवाज आती है)

रत्नसिंह—ज्ञात होता है पश्चिम की ओर शत्रु को कुछ सफलता मिल रही है। चलिये हम लोग उधर ही चलें।

मूलराज—चलो। यदि दीवार गिरी होगी तो हम स्वयं दीवार बन कर खड़े होंगे।

(दोनों का प्रस्थान। दूसरी ओर से सुरजनसिंह का प्रवेश)

सुरजन—रहमान खां साहब! रहमान खां साहब!

(रहमान सीखचों के पीछे आता है)

रहमान—तुम सुरजनसिंह! तुम जीवित हो?

सुरजन—जीवित हूं और स्वतन्त्र भी। उस दुष्ट महाकाल को मुझे बन्दी बनाने के लिए दंड देने को मैं सीखचों के बाहर आ गया हूं और आपसे भी कहता हूं चलिए, जल्दी चलिये।

(बंदीगृह का दरवाजा खोलता है)

रहमान—शाबास, सुरजनसिंह, तुम कुछ जादू जानते हो क्या ?

सुरजन—(रहमान के बन्धन खोलता हुआ) जादू नहीं रहमान खां साहब ! आज दुर्ग में बड़ी अव्यवस्था है। महाकाल अपने विश्वस्त सैनिकों को लेकर युद्ध-क्षेत्र में चला गया है। बन्दी-गृह पर उन लोगों का पहरा है जो मेरे अपने हैं। बेधड़क होकर हम गुप्त द्वार से बाहर चले चलेंगे।

(रहमान के बन्धन खुल चुके हैं। सुरजनसिंह रहमान को तलवार देता है।)

रहमान—आज शेर पींजरे से बाहर निकला है। अभी तक युद्ध नहीं तमाशा हुआ था। अब लोग रहमान की तलवार का भी जोर देखेंगे। रत्नसिंह के अभिमान को मिट्टी में मिला कर ही मुझे शाँति मिल सकती है।

सुरजन—बस चलो ! देर न करो।

(दोनों का प्रस्थान। एक ओर से पुरुष वेश में राजकुमारी प्रभा का प्रवेश। उसके हाथ में तीर कमान है।)

प्रभा—हैं-वे कौन दो छाया-मूर्तियां सी गुप्त मार्ग से जा रही हैं। पता नहीं वे हमारे सैनिक हैं या शत्रु के गुप्तचर। इस समय सोचने का अवसर नहीं है।

(तीर मारती है। तीर के छूटते ही 'हाय" शब्द सुनाई देता है।)

प्रभा—एक तो समाप्त हो गया—लेकिन दूसरा भागा। अच्छा देखती हूं उसे भी !

(प्रभा का प्रस्थान)

[पट-परिवर्तन]

छठा दृश्य

[स्थान—जैसलमेर के राज-भवन की वाटिका। अख्तरी अपनी झोली में फूल भरे बैठी है और माला बनाती हुई गा रही है।]

अख्तरी—

　　　　　　　　मैं बनाती फूलमाला !

दिल कली का छेद डाला,
कर दिए तरु वृन्द सूने।
गालियाँ मुझको सुनाता,
फिर रहा है मधुप काला।

　　　　　　　　मैं बनाती फूलमाला।

मैं उन्हें आई मनाने,
चल दिए वे जान लेने।
प्रेम के मैं गीत गाता,
वे उठाते तेज़ भाला।

　　　　　　　　मैं बनाती फूलमाला।

कह रही मैं प्रेम से तुम,
विश्व पर अधिकार कर लो।
पर, उन्होंने ख़ून बरसा,
विश्व को कर लाल डाला।

　　　　　　　　मैं बनाती फूलमाला।

(अख्तरी फूलों की माला बना रही है, उसके पीछे गिरिसिंह सैनिक के वेश में हाथ में तलवार लिए खड़ा हो जाता है। अख्तरी गिरिसिंह को देखे बिना ही माला बनाने और गाने में मस्त है। जब माला बन चुकती है, वह खड़ी होती है। पीछे से गिरिसिंह उसकी आंखें बन्द कर लेता है। अख्तरी गिरिसिंह के हाथ हटा कर, उसकी तरफ मुख करके खड़ी होती है और उसके गले में माला डालकर भागने लगती है। गिरिसिंह उसका हाथ पकड़ लेता है।)

'अख्तरी—तुम मुझे अन्धी नहीं बना सकते, भोले राजकुमार! मैं घने अंधेरे में भी तुम्हें देख लेती हूं—देखती रहती हूं।

गिरिसिंह—नादान अख्तरी! मेरे गले में यह फाँसी का फन्दा डालकर भागती कहाँ है? बोल तूने यह माला मुझे क्यों पहनाई? बचपन के खेल बड़े होने पर बहुत कष्ट देते हैं, अख्तरी!

अख्तरी—क्यों राजकुमार! मैं तो आज का खेला हुआ खेल कल भूल जाती हूं।

गिरिसिंह—लेकिन, अनेक खेल ऐसे होते हैं जो भुलाए नहीं जा सकते। और बड़े होने पर हमें वे खेल खेलने की संसार आज्ञा नहीं देता। बचपन में हम स्वतन्त्र हैं—आकाश में उड़ते हुए पंछियों की तरह चाहे जिस डाल पर जा बैठें—वाटिका में उड़ने वाली तितली की तरह चाहे जिस फूल पर जा बैठें—किंतु, बड़े होने पर समाज हमारे चारों ओर रेखाएं खींच देता है, जिनकी सीमाओं के बाहर नहीं जा सकते।

अख्तरी—मैं इन बातों को नहीं समझती, कुमार! चाचाजी ने यानी तुम्हारे पिता जी ने एक बार एक कृष्ण' की मूर्ति मुझे लाकर दी थी। मैंने वह मूर्ति अपने कमरे में सजा रखी है।

उसे मैं रोज़ माला पहनाती हूं। यहाँ वह मूर्ति नहीं थी--मैंने समझा मेरी मूर्ति में प्राण पड़ गए हैं, वह अपनी माला लेने आई है—इस लिए मैंने यह माला तुम्हें पहना दी है।

गिरिसिंह—तो तुम्हारी यह मूर्ति यह माला वापिस तुम्हें पहनाना चाहती है। (माला उतार कर उसके गले में पहनाना चाहता है।

अख्तरी—नहीं कुमार ! यह तुम्हारे लिए ही है मैं सिर्फ़ देना चाती हूं—लेना नहीं।

(माला हाथ में लेकर फिर गिरिसिंह के गले में डालती है-- इतने में प्रभा आती है। उसका वेश पुरुष-सैनिक का है। एक हाथ में खून से रंगी तलवार और दूसरे में सुरजनसिंह का कटा हुआ सर है।)

प्रभा—ठीक है, नारी केवल देने के लिए है—लेने के लिए नहीं।

अख्तरी—प्रभादेवी, यह कैसा भयानक वेश है। तुम यह क्या करती फिर रही हो ? मुझे डर लगता है—मैं तो चाहती हूं पुरुष भी यह हिंसक खेल न खेलें।

प्रभा—भोली अख्तरी ! यह भी नारी का एक रूप है। मैं नहीं चाहती कि स्त्री एक कोमल लतिका बन कर पुरुष से लिपटी रहे। स्वयं निर्वल रहे और पुरुष को भी बोझल बनाए। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए। उसमें प्रत्येक परिस्थिति से लोहा लेने की क्षमता होनी चाहिए।

गिरि—रहने भी दो बहिन, अपना यह भाषण ! यह छोटी सी बच्ची इन बातों को क्या समझे ? यह बता यह किसका सर काट लाई है ?

प्रभा—सुरजनसिंह का। विश्वासघात करने का यही परिणाम होता है।

गिरि—लेकिन यह तो वन्दी था।

प्रभा—यह वन्धन से छूट भागा था—साथ में अख्तरी के चाचा रहमानखाँ साहव को भी ले भागा था।

अख्तरी—चाचा जी यहाँ ?

प्रभा—हाँ, वे हमारे वन्दी थे। मुझे खेद है कि वे मेरे तीर के निशाने से बच गए।

अख्तरी—तो तुम उन को मार डालतीं ?

प्रभा—क्यों नहीं ! उन्होंने जैसलमेर के सभी वीर योद्धाओं की हत्या करने का आयोजन किया है। हत्यारों की हत्या करने में कौनसा पाप है ?

अख्तरी—यह सव क्या हो रहा है, मेरी समझ में नहीं आता ! प्रभा वहिन, यह देख कर मेरा दिल काँपता है। तुम तो स्त्री हो—तुम तो इन राक्षसी-कार्यों में मत पड़ो। तुम कपड़े वदल आओ। मेरी तरह एक कोमल कुमारी वन कर आओ। जाओ—मैं तुम्हें कहती हूं, जाओ। संसार को युद्ध करने दो। आज हम नाचेंगे, गाएंगे, खुशी मनाएँगे।

(प्रभा का प्रस्थान)

गिरि—अख्तरी, अव मैं जाऊंगा।

अख्तरी—कहाँ, लोगों के सर काटने ? इसके लिए और वहुत लोग हैं। देखो, मुझे वार-वार यहाँ नहीं आना है। और सुनो कुमार, मैं ऐसी दुनिया में ज्यादा दिन नहीं जी सकती। यहाँ आदमी भी जानवर वन गया हो। मेरा दिल इस दुनिया में

नहीं लगता, कुमार ! मैं जाऊंगी--ऊपर जहा सारे तारे हमेशा मुसकराते रहते हैं।

गिरी---नहीं अख्तरी ! हम अपनी इच्छा से कहीं आ-जा नहीं सकते। मनुष्य को आकांक्षा ने इस संसार का रूप विकृत कर दिया है। जब तक व्यक्तिगत आकांक्षाएं, लोभ और लालसाएं, राज्य-प्रणालियाँ और वैभवपति बनने की इच्छाएं जीवित हैं---तब तक यह हिंसा-कांड चलेगा ही। संसार की इस विकृति में केवल एक स्त्री का हाथ है, जो बहुत सुन्दर है।

अख्तरी---कौन है वह पिशाचिनी ?

गिरि--वह है लक्ष्मी ! संसार ने सरस्वती को छोड़कर लक्ष्मी की अराधना आरम्भ की है, तभी से उसका यह हाल है। एक वह युग था जब लक्ष्मी पति सरस्वती-साधक के चरणों में सर झुकाते थे। एक यह युग है कि लक्ष्मी-पति के पाप भी पुण्य समझे जाते हैं। लक्ष्मी ने मानव को वह शराब पिलाई है कि वह पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे का विवेक भूल गया है।

(प्रभा का स्त्री-वेश में प्रवेश। उसके एक हाथ में वीणा है---दूसरे में एक बाँसुरी।)

प्रभा--लो अख्तरी, यह वीणा ! और लो गिरि यह बाँसुरी !

अख्तरी---मैं वीणा बजाना नहीं जानती।

प्रभा---तो मैं बजाऊंगी ! अख्तरी, यह न समझो कि प्रभा केवल तलवार चलाना जानती है। मैं वीणा की तान से हिरनों

की सुधि भुला सकती हूँ। तुम नाचो अख्तरी, तुम कन्हैया बनकर बाँसुरी बजाओ गिरि! मैं वीणा बजाती हूँ। बाहर हमारे बड़े-बूढ़े सर्वनाश के तांडव में निरत हैं—हम यहाँ प्रेम का रास रचावेंगे। संसार में दोनों ही भाव जीवित रहेंगे, अख्तरी! सृजन और संहार! प्यार और प्रहार! विश्व का वैचित्र्य ही सौंदर्य है!

(प्रभा बैठकर वीणा बजाती और तान छेड़ती है। गिरि बाँसुरी बजाता है। अख्तरी नाचती है।)

(गान)

क्यों भूले, क्यों भूले!
बंसी का बजाना क्यों भूले!

ओ शङ्ख बजाने वाले,
संग्राम रचाने वाले,

गौओं का चुराना क्यों भूले?
क्यों भूले!
बंसी का बजाना क्यों भूले!

साम्राज्य जमाने वाले,
गीता समझाने वाले,

माखन का चुराना क्यों भूले!
क्यों भूले!
बंसी का बजाना क्यों भूले!

जब लता-वृक्ष सब फूले,
रेशम के डाले झूले,

राधा को झुलाना क्यों भूले!

बंसी का बजाना क्यों भूले !

(गिरिसिंह, प्रभा और अख्तरी नृत्य-गान में मग्न हैं । अनवरी और किरणमयी का प्रवेश । उन्हें देखकर नृत्य-गान बन्द हो जाता है ।)

किरणमयी—बन्द क्यों करती हो ? चलने दो ! तलवारों की झंकार सुनते-सुनते कान ऊब गए । छिड़ने दो तुम्हारा यह प्यारा सङ्गीत !

अनवरी—युद्ध के भयंकर वातावरण में इन बच्चों का यह मधुर सङ्गीत राजस्थान के सुविस्तृत रेगिस्तान में कहीं-कहीं लहराने वाले सरोवरों की भाँति हृदय को हरा कर देने वाला है, थके और प्यासे पंछियों को नवजीवन देने वाला !

किरणमयी—लज्जित क्यों होती हो प्रभा, गाओ ! अख्तरी, नाचो ! गिरि, छेड़ो मधुर वंसी ।

(नृत्य-गान आगे चलता है)

वह रस बरसाने वाली,
पूनम की रात उजाली,

मधु-रास रचाना क्यों भूले !
क्यों भूले !
बंसी का बजाना क्यों भूले !

भोली न रंग की होली,
बहती रस-वाली बोली,

रस-रंग बहाना क्यों भूले !
क्यों भूले !
बंसी का बजाना क्यों भूले !

[पटाक्षेप]

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

[स्थान—जैसलमेर दुर्ग के बाहर युद्ध-भूमि । समय-संध्या के निकट । महबूब और अलाउद्दीन बातें करते हुए प्रवेश करते हैं ।]

अलाउद्दीन—महबूब, आज का युद्ध देख कर मुझे बहुत आनन्द मिला । हमारी सेना ने जान पर खेलकर दुर्ग पर भयंकर आक्रमण किया है—उधर शत्रु ने भी अपनी शक्ति से भी अधिक साहस प्रदर्शित किया है ।

महबूब—आप कहते थे मैं मित्र पर दया करता हूँ ।

अलाउद्दीन—वह मेरा भ्रम था, महबूब ! जैसे सम्बन्ध तुम्हारे और रत्नसिंह के हैं—वैसे मेरे उसके साथ होते तो मैं नहीं कह सकता कि मैं तुम्हारी तरह उसके विरुद्ध तलवार पकड़ सकता या नहीं ।

महबूब—बादशाह सलामत आप अपनी तलवार के स्वामी हैं—उसे अपनी इच्छा से म्यान के बाहर निकाल सकते हैं और भीतर रख सकते हैं । महबूब की तलवार पर आपका शासन है । वह आपके इशारे पर नाचती है । साम्राज्य का मान जिस दिन मेरी तलवार से कहेगा कि तुम महबूब के बीबी-बच्चों का खून पियो उस दिन भी वह अपना कार्य करने में हिचकेगी नहीं ।

अलाउद्दीन—मुझे तुम्हारे जैसे सेनापति पर अभिमान है, महबूब ! जब तक मेरे सेनापति संगठन और अनुशासन का मूल्य समझते हैं—हमारे शासन का भवन सुदृढ़ है ।

दूसरा दृश्य

(स्थान—जैसलमेर की राज्य-वाटिका में अख्तरी घूमती हुई गा रही है। उसका गीत संध्या के उदासी भरे हुए वातावरण का गम्भीरता बढ़ा रहा है।)

अख्तरी—(गान)।

जा न पंछी, जा न पंछी !

जल रहा है कुंज, जिसमें
नीड़ था तूने बनाया !
लाल लपटों में समाने
के लिए तू क्यों लुभाया !

मान पंछी, जा न पंछी !
जा न पंछी, जा न पंछी !

हैं सभी तरु एक जैसे
एक जैसे कुंज सारे,
विश्व के वन में सभी जन
मुसकराते से सितारे।

जा न पंछी, मान पंछी !
जा न पंछी, जा न पंछी !

पंख तेरे हैं तनिक से
और लपटें हैं भयंकर !
नाश से रण ठानने की
बावले, न भूल मत कर !

दे न कोमल प्राण पंछी
जा न पंछी जा न पंछी !

(अख्तरी गा रही है—प्रभा आती है।)

प्रभा— पक्षियों की जानों की बड़ी चिंता हो रही है तुझे !

अख्तरी—मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि प्राणी अभय सपनों को सच्चे क्यों करना चाहता है ?

प्रभा—इसलिये कि प्रत्येक प्राणी को सपने देखने का अधिकार है—और उन सपनों को सच्चे करने का भी ?

अख्तरी—जब हम दिल्ली से यहाँ आ रहे थे तो एक जगह मैंने देखा—एक पेड़ के पत्ते—डालियां सब जल गये हैं—फिर भी कुछ पंछी उस ठूंठ पर अपना घोंसला बनाये हुये हैं। क्या उन्हें कोई अच्छा पेड़ नहीं मिल सकता था ?

प्रभा—क्यों नहीं ? लेकिन जिस वृक्ष पर अतीत के सुनहले दिन बिताये हैं—उसके सर्वस्वहीन हो जाने पर भी क्या उसे छोड़ा जा सकता है। वर्षों के संसर्ग और सहवास ने ममता का वह बन्धन बांध दिया है कि फिर कोई स्वर्ग के नन्दन में भी ले जाये—वे पक्षी अपने पुराने पेड़ को नहीं छोड़ते।

अख्तरी—लेकिन क्या यह बुद्धिमानी है।

प्रभा—भावना के जगत में प्रत्येक बात बुद्धि की आंखों से नहीं देखी जाती अख्तरी ! अपने घर, देश और जन्मभूमि के प्रति प्रेम की भावना रखना प्राणीमात्र का स्वभाव है। जिसने प्राणों के मोह में पड़ कर अपनी जन्मभूमि को भुला दिया, वह बुद्धिमान नहीं कापुरुष है !

अख्तरी—मनुष्य तो अपने लिये सदा ही अधिकाधिक सुख-ऐश्वर्य की खोज करता रहता है। देखो न हिन्दुस्तान को हरा-भरा और धन-धान्य पूर्ण देख कर विदेशी यहीं अपना घर बना लेते हैं।

पहला सैनिक—लेकिन भाई, राजाओं के व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये हम लोग क्यों अपनी जान लुटावें। दुनियां में जो खून की होली खेली जा रही है वह रुक सकती है—यदि हम लोग थोड़ा सा साहस बटोरें !

दूसरा सैनिक—कैसा साहस ?

पहला सैनिक—यही कि हम दूसरों के इशारे पर नाचना छोड़ दें। इस दुनियां में सबको रहने—बसने के लिये स्थान है—सबका पेट भरने के लिये अन्न है। फिर किस लिये यह हत्याकांड चालू है ? थोड़े से व्यक्तियों ने सारे संसार को नरक बना रक्खा है। हमें इसके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिये।

दूसरा सैनिक—लेकिन भाई, यदि एक देश के सैनिक ऐसा सोच कर सैनिक-वृत्ति छोड़ दें; तो उससे क्या होगा। यह भाव सम्पूर्ण विश्व के सैनिक-वर्ग में—जन-जन के मन में जागे तभी कुछ हो सकता है। जब तक एक भी देश सैनिक-शक्ति का हामी है - संसार के प्रत्येक देश को हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करने को प्रस्तुत रहना पड़ेगा। हम लोग यदि सैनिक वृत्ति से घृणा करेंगे तो हमारी जाति दुर्बल होगी—हम पराधीन बन जावेंगे। इसलिये हमें सैनिकत्व पर अभिमान करना चाहिये। हम लोग अपनी जाति, देश और राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी हैं।

पहला—ये तो इन साम्राज्यवादियों और पूंजीपतियों के फैलाए हुए विचार हैं। इन्होंने हमें मूर्ख बनाया हुआ है। हम लोगों की लाशों पर ये लोग अपने साम्राज्यों के विशाल-भवन निर्माण करते हैं। तुम चाहे कुछ कहो—मैंने तो सीधे घर लौट जाने का निश्चय किया है।

दूसरा सैनिक—यह अपराध है और इसका दण्ड मृत्यु है।

पहला सैनिक—देखा जावेगा ! ऐसे भी कौन जीवित रह सकेंगे। मैं तो कहता हूं तुम भी चलो।

(पहला सैनिक दूसरे का हाथ पकड़ कर ले जाता हैं, एक ओर से दोनों सैनिकों का प्रस्थान, दूसरी ओर से अलाउदीन और महबूब का प्रवेश)।

अलाउद्दीन-हमें डूब मरना चाहिये, महबूब ! थोड़े से राजपूतों ने हमारी सारी सेना का संहार कर दिया।

महबूब—क्या किया जा सकता था, बादशाह सलामत ! सेना पर दोनों ओर से ऐसा भीषण आक्रमण हुआ कि न उसे अपनी रक्षा करने का अवसर मिला, न अधिक हानि उठाये बिना भागने का।

अलाउद्दीन—मैं इसका बदला लूंगा, महबूब ! जैसलमेर के दुर्ग को जब तक धूल में नहीं मिला दूंगा, मुझे शांति नहीं मिलेगी।

महबूब—आपका क्रोध स्वाभाविक है, बादशाह सलामत ! लेकिन मैं भी कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। ऐसे वीर राजपूतों को शत्रु बनाने की अपेक्षा मित्र बना लेना क्या उचित न होगा ? आप कहें तो मैं रत्नसिंह से सन्धि की चर्चा करूं।

अलाउद्दीन—यह हमारी दुर्बलता होगी, महबूब ! पराजित होकर सन्धि-चर्चा करना मेरे मान के विरुद्ध है। दुनियां क्या कहेगी—दिल्ली का बादशाह राजपूताने के एक छोटे से राजा से हार गया।

महबूब—नहीं बादशाह सलामत, दुनियां पर आपकी शक्ति अनेक बार प्रकाशित हो चुकी है। यदि हमारी ओर से सन्धि-चर्चा प्रारम्भ हो तो दुनियां इसे आपकी उदारता समझेगी न कि दुर्बलता।

(रहमान का प्रवेश)

अलाउद्दीन—कौन रहमान ! तुम कहां गुम हो गए थे ?

रहमान—आपके लिए विजय का मार्ग बना रहा था।

अलाउद्दीन—कैसे ?

रहमान—शत्रु के बन्दी-गृह में रह कर। बस, सब कुछ तैयार है। एक तरह से जैसलमेर हमारे अधिकार में है।

अलाउद्दीन—इस पराजय के बाद भी !

रहमान—क्यों नहीं ? लड़ाइयां केवल तोपों और तलवारों से ही नहीं जीती जातीं। उनके बिना भी शत्रु को पराजित किया जा सकता है, बादशाह सलामत ! मैंने इतने महीनों जैसलमेर के बन्दी-गृह में रह कर व्यर्थ ही कष्ट नहीं सहा है। जो सुरक्षित दुर्ग की दुर्गम दीवारों के बाहर [illegible] आ गया है—उसमें उन्हें मिट्टी में मिलाने की भी शक्ति है।

अलाउद्दीन—मैं तो समझता हूं—हमें इस वीर जाति से मित्रता कर लेनी चाहिए।

रहमान—क्यों ?

अलाउद्दीन—हमारी लग-भग सभी सेना नष्ट हो चुकी है। दिल्ली से यहां तक और सेना बुलाना—इतने धन और सैनिकों को नष्ट कराना—वह भी इस पहाड़ी किले के लिए—इस रेगिस्तान मुल्क के लिए—व्यर्थ पागलपन है।

रहमान—और सेना का क्या होगा, बादशाह सलामत! जैसलमेर तो बुझता हुआ चिराग है। आप उसकी अंतिम लौ को देख कर विस्मित न हों। उसका जीवन समाप्त हो चुका है। इस दीपक का तेल व्यतीत हो गया है।

महबूब—तुम्हारा क्या मतलब है, रहमान! राजपूतों की वीरता की ज्योति अमर है। बड़ी से बड़ी आँधी भी उसे नहीं बुझा सकती।

रहमान—मैं सपनों के देश में नहीं रहता, भाई साहब! मैं हर एक बात सत्य की आँखों से देखता हूं। मैंने सारा प्रबन्ध कर लिया है। अपनी बची-खुची सेना को एकत्रित कीजिए और कल ही दुर्ग पर दुबारा आक्रमण कीजिए और देखिए कि क्या जादू होता है।

अलाउद्दीन—तुम भी एक रहस्यमय व्यक्ति हो, रहमान! तुमने क्या किया है—इस विषय में जब तक साफ साफ न जान लूं—तब तक कोई कदम किसी तरफ न उठाऊंगा। तुम मेरे साथ आओ, रहमान।

(रहमान और अलाउद्दीन का प्रस्थान)

महबूब—मैं तो चाहता हूं, युद्ध की ज्वाला शान्त हो,

सामग्री समाप्त हो चुकी है और जब तक नई कुमुक न आवे वह हम पर आक्रमण नहीं कर सकता।

महाकाल—ऐसी स्थिति में यदि वह हमारी ओर सन्धि का हाथ बढ़ाए तो हमारा जो जन-धन का संहार हुआ है उसका प्रतिदान लिए बिना युद्ध बन्द नहीं करना चाहिए !

रत्नसिंह—हमें अपना मान और अस्तित्व बनाए रखने के लिए इससे अच्छा अवसर हाथ नहीं लगेगा, महाकाल !

मूलराज—तुम ठीक कहते हो रत्नसिंह ! अलाउद्दीन को हम दो चार बार युद्ध-भूमि में पराजित कर भी लें—दुर्ग की दृढ़ता के कारण उसकी असंख्य सेना के छक्के भी छुड़ाते रहें, फिर भी हमारे साधनों का छोर है और उसके साधनों का नहीं।

महाकाल—यह ठीक है ! लेकिन, हम सारे रास्ते रोक कर उनके एक भी सैनिक को दिल्ली न जाने दें। जो यहां हैं उन्हें यहीं समाप्त कर दें। इस महत्वकांक्षी पशु को पकड़ कर महाकाली के आगे उसकी बलि दे दें।

रत्नसिंह—हमारे सारे ही सपने सच्चे नहीं हो सकते। मनुष्य को अपनी पशुता दूर करने का अवसर मिलना चाहिए। भारत की विशृंखल वीरता एक सूत्र में बंध जावे तो कितनी अच्छी बात है। यहाँ युद्ध के नगाड़ों की जगह शान्ति और प्रेम की बांसुरी बजनी चाहिए। भारत में चिर काल से युद्ध की ज्वाला जल रही है। कला, व्यवसाय, साहित्य और समृद्धि का नाश हो रहा है। इसलिए हमें सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में बाँधने का यत्न करना चाहिए।

महाकाल—और वह सूत्र है अलाउद्दीन का साम्राज्य ! क्यों न रत्नसिंह जी ! मैं कहता हूं, महबूब की मित्रता के मोह में अपनी संस्कृति और आदर्शों का अपमान न कीजिए, जो विदेशी व्यक्ति प्रभुता का मद लिए सिंहासन पर बैठ कर देश के प्रत्येक राज्य को अपना अनुचर बनाना चाहता है, उसके साथ भारत का आत्म-सम्मान अन्तिम क्षण तक युद्ध करेगा।

मूलराज—तुम्हारी बात में भी बल है, महाकाल, और रत्नसिंह ने जो कुछ कहा है उस पर भी हमें विचार करना चाहिए। एकान्त में बैठ कर हम इन बातों पर विचार करेंगे। निश्चय जानो महाकाल, जैसलमेर के राज्यधिकारी कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे, जिससे क्षत्रियत्व को लज्जित होना पड़े।

महाकाल—इसका मुझे भरोसा है, महारावल !

मूलराज—आज तो मैंने आप लोगों को इसलिए एकत्रित किया है कि कल की विजय के उपलक्ष्य में अपने वीर योद्धाओं का अभिनन्दन किया जावे। सब से पहले मैं जैसलमेर की वीरता के प्रतीक—क्षत्रिय कुल अभिमान—महाकाल जी को उनके अपूर्व साहसपूर्ण कार्य के उपलक्ष्य में यह तलवार भेंट करता हूं।

(महाकाल तलवार लेता है।)

महाकाल—महारावल ने मेरी सेवाओं को जो महत्व दिया उसके लिए मैं गर्व अनुभव करता हूं। मुझे तलवार से अधिक प्रिय वस्तु संसार में कुछ नहीं। आप की दी हुई तलवार का प्राण रहते मैं मान रक्खूंगा। यह तलवार सदा ही जैसलमेर की सेवा में लगेगी।

किरणमयी—कैसी रहस्यमयी नारी है तांडवी ! हम परिस्थितियों से हार कर प्राण दे रही है—वह हारना तो सीखी ही नहीं है। वह साधना का अखण्ड दीप जलावेगी। चलो प्रभा, अन्य क्षत्राणियां हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं।

(दोनों का प्रस्थान)

[पट- परिवर्तन]

छठा दृष्य

[स्थान—जैसल मेर दुर्ग की तलहटी ! महाकाल केसरिया कपड़े पहने हुये—घायल अवस्था में एक ओर से आ रहा है। उसके कपड़े खून से तर हैं। उसके बाएं हाथ में बहुत बड़ा घाव हुआ है, जिसे वह अपने सर की पगड़ी से बांधता चला आ रहा है, दूसरी ओर से तांडवी का प्रवेश।]

—तांडवी—तुम भैया ! अभी तो युद्ध का धौंसा भी नहीं बजा तुम किससे खून की होली खेल आए ? जान पड़ता है बहुत बड़ा घाव है। लाओ पट्टी बाँध दूं।

(महाकाल की पट्टी बांधने लगती है।)

महाकाल—बहन, आज तो निकला ही सर से कफ़न बाँध कर हूं। इन छोटे-छोटे आघातों की चिंता ही क्या? मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मैंने जैसलमेर का विध्वंस कराने वाले नर-पिशाच रहमान खाँ को यम के घर भेज दिया। अब मैं सुख की मौत मर सकूंगा, तांडवी!

तांडवी—इतने सवेरे उससे कैसे मुठभेड़ हो गई, भैया!

महाकाल—उसकी मौत उसे बुला लाई। रत्नसिंह जी गिरसिंह को लेकर इधर से जा रहे थे—संभवतः राजकुमार को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने। मैंने देखा रहमान कुछ आदमियों को लेकर उनके पीछे जा रहा है। उसकी आँखों में हिंसा चमक रही थी। पलक मारते ही—महाकाल शत्रु के सामने जा पहुंचा।

तांडवी—अकेले ही?

महाकाल—हाँ, आज तो अकेले ही सहस्त्रों से लड़ना है। आज तो वापस न लौटने के लिए ही घर से निकले हैं। मेरी तलवार के एक वार ने रहमान खाँ के सर को धड़ से अलग कर दिया। उसके साथियों से लड़ते हुए थोड़ी सी चोट लग गई है।

(तांडवी पट्टी बांध चुकी है।)

तांडवी—उसके साथी बच कर निकल गए।

ाधीनता का शत्रू है। वास्तव में आज मैं पराजित हो गया।

रत्नसिंह—क्यों ?

महबूब—इस युद्ध के बाद यदि अलाउद्दीन ने जैसलमेर पर गिरि को न बिठाया तो मैं तांडवी की सेना में हूँगा।

महाकाल—धन्य हो महबूब !

(नेपथ्य में गान)

गान—

आज आई ज्योति आई ।

घोरनभ को छेद, रवि की
रसिमियों ने छवि दिखाई।
निशि निराशा की मिटी है
और आशा मुसकराई ।

आज आई, ज्योति आई।

आज नभ की लालिमा ने
मार्ग में रोली विछाई ।
देव मेरे आ रहे हैं—
गूंथ कर मैं हार लाई ।

आज आई, ज्योति आई।

(गाते हुए अख्तरी का प्रवेश)

गिरि—कौन अख्तरी !

अख़्तरी—हाँ, चाचा जी से मिलने आई थी।

(दौड़ कर गिरि का हाथ पकड़ लेती है)